ज्ञानोदय ग्रंथमाला : ग्रंथांक—१

भारतीय तत्त्वविद्या

[महाराजा सयाजीराव गायकवाड पारितोषिक व्याख्यानमाला
—सन् १९५६-५७—में दिये गये पाँच व्याख्यान]

व्याख्याता

पण्डित सुखलालजी संघवी
डी. लिट्

अनुवादक

शान्तिलाल म. जैन
एम. ए., शास्त्राचार्य

ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद

प्रकाशक

रतिलाल दीपचन्द देसाई
मंत्री : ज्ञानोदय ट्रस्ट
अनेकान्तविहार (श्रेयस् कॉलोनीके पास)
अहमदाबाद-९ (गुजरात राज्य)

⊙

प्राप्तिस्थान-

(१) गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय
गाँधीमार्ग, अहमदाबाद-१

(२) हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर (प्राइवेट) लिमिटेड
हीराबाग, बम्बई-४

⊙

अगस्त : १९६०
श्रावण : वि. सं. २०१६

⊙

मूल्य : तीन रुपया

⊙

मुद्रक
रामेश्वर पाठक
तारा यन्त्रालय
कमच्छा, वाराणसी

प्रकाशकीय निवेदन

पूज्य पण्डित सुखलालजीने 'महाराजा सयाजीराव गायकवाड पारितोषिक व्याख्यानमाला' में म. स. यूनिवर्सिटी ऑफ़ बरोडाके आमंत्रणको स्वीकार कर गुजरातीमें पांच व्याख्यान ता. २१,२२,२३, फरवरी १९५७में दिये थे। वे '**भारतीय तत्त्वविद्या**' के नामसे गुजरातीमें प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ उन्हीं व्याख्यानोंका हिन्दी अनुवाद है। इन व्याख्यानोंके हिन्दी प्रकाशनकी अनुमति देनेके लिए ट्रस्ट म. स. यूनिवर्सिटी ऑफ़ बरोडाके अधिकारियोंका आभारी है। प्रस्तुत व्याख्यानोंका अंग्रेजी अनुवाद भी ट्रस्टकी ओरसे शीघ्र ही प्रकाशित करनेकी योजना है।

इन व्याख्यानोंकी अपनी मौलिक और अपूर्व विशेषता यह है कि इनमें जगत्, जीव और ईश्वरके विषयमें दार्शनिक विचारोंका क्रमिक विकास भारतीय दर्शनोंमें किस प्रकार हुआ है उसे तटस्थ दृष्टिसे और तुलनात्मक ढंगसे दिखाया गया है। विविध भारतीय दर्शनोंका परिचय देनेवाले कई ग्रन्थ हिन्दी-अंग्रेजी आदि भाषाओंमें प्रकाशित हुए हैं, किन्तु दार्शनिक विचारके प्रस्तुत तीन विषय—जगत्, जीव और ईश्वर—के बारेमें सर्वग्राही विचारविकासका ऐसा निरूपण अभीतक देखनेमें नहीं आया। प्रस्तुत व्याख्यानोंमें पू. पण्डितजीने इस विकासका निरूपण अपनी पैनी दृष्टिसे किया है।

इस पुस्तकका हिन्दी अनुवाद प्राध्यापक शान्तिलाल म. जैन एम. ए., शास्त्राचार्यने किया है; इस ग्रन्थके मुद्रणका सारा प्रबन्ध पण्डित दलसुखभाई मालवणियाने किया है; और इसका स्वच्छ व सुन्दर मुद्रण तारा यन्त्रालयने किया है; एतदर्थ हम उन सभीके कृतज्ञ हैं।

आशा है, तत्त्वविद्याके जिज्ञासुके लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

अहमदाबाद
ता. ७-८-१९६०
रक्षाबंधन

र. दी. देसाई
मंत्री,
ज्ञानोदय ट्रस्ट

शुद्ध करके पढ़ें

पृष्ठ ३९ की टिप्पणी २ में तीसरी पंक्तिमें 'अभावके साथ पाँच प्रभाकर, अर्थापत्तिके साथ छः कुमारिल' मुद्रित हुआ है; उसके स्थानमें 'अर्थापत्तिके साथ पाँच प्रभाकर, अभावके साथ छः कुमारिल' पढ़ें।

ज्ञानोदय ट्रस्ट और उसके स्थापक

[१]

ज्ञानोदय ट्रस्टका परिचय

१९५५ ईसवीके दिसम्बरकी ८ वीं तारीखको पूज्य पण्डित श्री सुखलालजीको ७५ वाँ वर्ष पूरा होनेवाला था। पण्डितजीकी उत्कट विद्यासाधना, जागरूक जीवन-साधना और वात्सल्यपूर्ण प्रकृतिके कारण सारे देशमें कई विद्वान्, श्रीमान्, सामाजिक एवं राष्ट्रीय कार्यकर तथा सामान्य भाई-बहन उनके प्रति श्रद्धा व आदरका भाव रखते हैं। अतः उनके मित्रों, प्रशंसकों और शिष्योंने सोचा कि इस शुभ अवसर पर सारे देशकी ओरसे उनका गौरव एवं सम्मान करना चाहिए; और इसके लिए देशके विभिन्न प्रदेशोंमेंसे कम-से-कम ७५ हजार रुपयोंकी निधि एकत्रित करके उन्हें समर्पित करनी चाहिए।

इस कार्यको सम्पन्न करनेके लिए १९५५के जून महीनेमें 'पण्डित सुखलालजी सम्मान समिति''की स्थापना की गई। इस समितिके अध्यक्ष हमारी लोकसभा (Parliament)के तत्कालीन अध्यक्ष माननीय गणेश वासुदेव मावलंकर थे; किन्तु उनका स्वर्गवास होने पर तत्कालीन बम्बई राज्यके मुख्य मंत्री माननीय श्री मोरारजीभाई देसाई समितिके अध्यक्ष चुने गये। समितिका मुख्य कार्यालय अहमदाबादमें रखा गया और उसकी शाखायें बम्बई, कलकत्ता, बनारस, मद्रास, जयपुर, राजकोट आदि शहरोंमें स्थापित की गईं।

समितिने देशभरमेंसे रु. १,०११,४१-७५ की निधि एकत्रित की और पण्डितजीके गुजराती एवं हिन्दी लेखों तथा निबन्धोंका संग्रह करके गुजरातीमें "दर्शन अने चिन्तन" नामक दो ग्रन्थ और हिन्दीमें "दर्शन और चिन्तन" नामक एक ग्रन्थ—इस तरह कुल ढाई हजारसे भी अधिक पृष्ठोंके तीन ग्रन्थ प्रकाशित किये।

१५ जून १९५७ को सायंकाल ५ बजे बम्बई यूनिवर्सिटीके कन्वोकेशन हॉलमें भारतके उपराष्ट्रपति तथा विश्वविश्रुत तत्त्वचिन्तक माननीय डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णनकी अध्यक्षतामें पण्डितजीके सम्मानका एक भव्य समारोह किया गया। समारोहमें डॉ. राधाकृष्णनके करकमलसे पण्डितजीको पचपन हजार रुपयोंकी निधि और "दर्शन-चिन्तन" के तीन ग्रन्थ समर्पित किये गये। समारोहके पश्चात् एकत्रित हुए पन्द्रह हजार रुपये भी उक्त निधिमें समर्पित करनेके लिये पण्डितजीको अर्पण किये गये।

इस प्रकार सत्तर हजार रुपये नगद और सम्मान समितिके दाताओंको उपहारस्वरूप देनेके उपरान्त "दर्शन-चिन्तन"की अवशिष्ट प्रतियोंका मूल्य ग्यारह हजार रुपये गिनकर कुल इक्यासी हजार रुपयोंका एक ट्रस्ट पण्डितजीने २१ नवम्बर, १९५७के दिन स्थापित किया। इस ट्रस्टका नाम '**ज्ञानोदय ट्रस्ट**' रखा गया।

उद्देश्य

(१) भारतीय संस्कृति, दर्शन और धर्म विषयक ग्रन्थ, विद्वानोंको योग्य पारिश्रमिक देकर, तैयार करवाना और उन्हें प्रकाशित करना।

(२) भारतीय संस्कृति, दर्शन और धर्मके विषयको लेकर आगे अध्ययन करने-वाले छात्रों एवं विद्वानोंको छात्रवृत्ति या प्रवासव्यय (Travelling Fellowship) देना।

(३) पण्डित सुखलालजीके ग्रन्थ, लेख और निबंधोंको एकत्रित करके उनका संपादन एवं प्रकाशन करना तथा भिन्न भिन्न भाषाओंमें उनका अनुवाद करवाना।

(४) भारतीय संस्कृति दर्शन और धर्मसे सम्बन्धित विषयों पर विद्वानोंके व्याख्यानोंकी आयोजना, उन्हें योग्य पारिश्रमिक देकर, करना और उन्हें प्रकाशित करना।

(५) विश्वके विभिन्न देशोंके सांस्कृतिक समन्वय एवं मानवताके उत्थानमें सहायक हो सके ऐसा मूल या अनूदित साहित्य प्रकाशित करना।

ट्रस्टीमण्डल

ट्रस्टका पता—अनेकान्तविहार (श्रेयस् कॉलोनीके पास), नवरंगपुरा, अहमदाबाद-९ (गुजरात राज्य)।



पण्डित सुखलालजी

प्रज्ञाचक्षु पण्डित श्री सुखलालजीका परिचय

भारतीय दर्शनोंके समर्थ पण्डित और दार्शनिक समन्वयके मौलिक चिंतक पण्डित श्री सुखलालजीका जन्म ता. ८-१२-१८८०के दिन एक व्यापारी वणिक कुटुम्बमें हुआ था। सौराष्ट्रके झालावाड़ जिलेका छोटासा लीमडी गाँव पण्डितजीका जन्मस्थान है। उनके पिताका नाम संघजीभाई था।

बचपनसे ही बुद्धिशाली पण्डितजी जैसे विद्याभ्यासमें सदैव आगे रहते थे, वैसे ही तैरनेमें, घुड़सवारीमें और घोड़ेकी पीठपर खड़े रहकर सरकसके खिलाड़ीकी भाँति उसे दौड़ाने आदि साहसोंमें भी अग्रसर रहते थे। इतनी विद्यानिष्ठा और साहसप्रियताके साथ-साथ स्वाश्रयप्रियता, आज्ञाकारिता तथा किसीका भी कार्य आनन्दपूर्वक करनेकी तत्परताका विरल सुयोग उनमें था। इसके कारण वे शिक्षकोंमें, कुटुम्बीजनोंमें एवं गाँवमें सबके प्रीतिपात्र बने थे।

गुजरातीकी सात कक्षा तक अभ्यास करनेके उपरान्त उनका मन अंग्रेजीका अभ्यास करनेके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित होने पर भी पिताजीने ऐसे बुद्धिशाली और गुणवान पुत्रको विद्याके बदले व्यापारमें जोडना योग्य समझा; और पण्डितजी दुकान पर बैठने लगे।

परन्तु भाग्य-निर्माण कुछ और ही था। पण्डितजीकी माताका तो चार वर्षकी अवस्थामें ही स्वर्गवास हो चुका था। सगी माताके प्रेमको भी भुला दे वैसी नयी माता आई और वह भी चौदह वर्षकी आयु तक पहुँचते-पहुँचते चल बसीं। पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें विवाहकी तैयारियाँ चलती थीं, परन्तु कन्यापक्षमें कुछ घटना घटित हुई, जिससे विवाह स्थगित रखना पड़ा। सोलह वर्षकी आयुमें पण्डितजी चेचकके भयंकर रोगसे ग्रस्त हुए। इस व्याधिमेंसे वे बड़ी कठिनाईसे बच तो पाये, पर उनकी आँखोंका तेज सदाके लिए नष्ट हो गया और कुटुम्बकी सारी आशाएँ निराशामें परिणत हो गई। यह वर्ष था वि. सं. १९५३ का।

पण्डितजीके अन्तरमें मानो अन्धकार छा गया, परन्तु धीरे-धीरे उनके मनकी विकलता दूर होने लगी। गाँवमें आनेवाले जैन साधु-साध्वी एवं दूसरे सन्तोंके पाससे जो कुछ जाना-समझा जा सकता था उसे प्राप्त करनेके लिए पण्डितजीने अपना मन उस ओर मोड़ा। जिसको विधाताने दया दिया उसकी शास्त्राभ्यासने

जीवनके अमर पाथेयका दान किया। 'न दैन्यं न पलायनं'—यह पण्डितजीका साधना-मंत्र बन गया।

सातेक वर्ष इस प्रकार बीत गये। अब पण्डितजीका मन उच्च विद्याध्ययनके लिए लालायित रहने लगा। उन्हें अब प्रतिपल ऐसा ही विचार आता कि जहाँ कहीं भी गम्भीर शास्त्राभ्यास हो सके वहाँ चाहे जितना कष्ट झेलकर भी पहुँच जाना। कष्ट तो प्रगतिका प्रथम सोपान है। इसीलिए तो 'विपदः सन्तु नः शश्वत्'—महाभारतकार द्वारा माता कुन्तीके मुखमें रखा गया यह वाक्य पण्डितजीको अत्यन्त प्रिय है।

इस बीच पण्डितजीको कहींसे ज्ञात हुआ कि काशीमें आचार्य श्री विजयधर्म-सूरीश्वरजीने जैन विद्वानोंको तैयार करनेके लिए 'श्री यशोविजयजी जैन संस्कृत पाठशाला' की स्थापना की है। यह जानकर उन्होंने किसी भी तरह काशी पहुँचनेकी मनमें ठान ली और कुटुंबकी हजार ना होने पर भी एक दिन वे काशीके लिए प्रस्थित हुए। वे तो, महारथी कर्णकी भाँति ऐसा ही मानते हैं कि जीवन-विकासके मार्गमें भाग्यने भले ही अवरोध खड़े किये, परन्तु पुरुषार्थके द्वारा उन अवरोधोंको पार करना तो अपने बसकी बात है। 'मदायत्तं तु पौरुषम्' तो पण्डितजीका जीवनमंत्र है।

काशीमें तीन वर्षमें अठारह हजार श्लोक-परिमाण सिद्धहेमव्याकरण पण्डित-जीने कण्ठस्थ कर लिया; साथ-ही-साथ न्याय एवं साहित्यका अभ्यास भी शुरू कर दिया। परन्तु बादमें उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि अधिक गहरे अभ्यासके लिए पाठशालाका वातावरण अनुकूल नहीं है; फलतः वे गंगाके किनारे भदैनी घाट पर एक जैन धर्मशालामें अपने ब्राह्मण मित्र व्रजलालजीके साथ रहने चले गये। यहाँ आर्थिक कठिनाइयाँ तो बहुत थीं और अपनी उत्कट जिज्ञासाको सन्तुष्ट कर सके वैसे गुरुओंका सुयोग भी सरल नहीं था। कड़े जाड़ेमें या जलती धूपमें रोज छः–आठ मील चलकर भी वे ऐसे गुरुओंके पास पहुँचते। एक बार तो अमेरिका जानेका भी मनोरथ किया था। ऐसे कठोर और गम्भीर विद्याध्य-यनके समय भी गंगाके गहरे और तेज प्रवाहमें स्नान करनेका उन्हें मन हो आता। हाथमें रस्सी बाँधकर और किनारेपर किसीको उसका एक छोर पकड़-वाकर वे स्वयं तैरनेका आनन्द लेते। एक बार तो तेज प्रवाहमें बह जानेसे उन्हें उनके मित्र व्रजलालजीने बड़ी कठिनाईसे बचाया था।

व्याकरण-साहित्यके अध्ययनके बाद लगभग तीन वर्षमें दर्शनशास्त्रका जो अभ्यास काशीमें शक्य था उसे पूर्ण करने पर पण्डितजीका मन नव्यन्यायके

अध्ययनार्थ मिथिलामें जानेके लिए अत्यंत उत्कण्ठित हो उठा। मिथिला तो नव्य-न्यायके प्रकाण्ड पण्डितोंका प्रदेश; किन्तु दूसरी ओर वहाँ दरिद्रता भी उतनी ही।

अपना मुख्य केन्द्र काशीमें रखकर पण्डितजी समय-समय पर उस प्रदेशमें जाकर नव्यन्यायका अभ्यास करने लगे। वहाँका जाड़ा और बरसात तो ऐसे कि उनके आगे मनुष्य हार खा जाय। पण्डितजीके पास इस सर्दीसे बचनेके लिए एक था गरम स्वेटर और एक था जर्जरित कम्बल। स्वेटर उनके गुरुजीको पसन्द आया, इसलिए पण्डितजीने वह उन्हें दे दिया। सर्दीसे बचनेका अब दूसरा कोई साधन न होनेसे नीचे पुआल बिछाकर और ऊपर फटे-पुराने कम्बल पर पुआल डालकर उन्होंने उस कड़े जाड़ेका सामना किया।

लगभग तीन वर्षमें पण्डितजी मिथिला प्रदेशके तीन गाँवोंमें घूमे। अन्तमें दरभंगामें उनका समागम म. म. पंडित श्री बालकृष्ण मिश्रके साथ हुआ। उनकी पारगामी विद्वत्ता और सहृदयताने पण्डितजीकी जिज्ञासाको सन्तृप्त किया। फिर तो ये गुरु और शिष्य जीवनभरके मित्र बन गये।

इस तरह स्वजन और प्रिय प्रदेशसे दूर रहनेमें नौ वर्ष जितना लम्बा समय बिताकर पण्डितजीने अपना विद्याध्ययन पूरा किया और वे व्याकरण, काव्य, अलंकार, दर्शन, एवं धर्मशास्त्रके एक समर्थ विद्वान् तथा दर्शन एवं तत्त्वज्ञानके तो एक पारगामी पण्डित बन गये। मानो जन्मसे वैश्य पण्डितजी कर्मसे ब्राह्मण बन गये। पर द्विजत्वका यह संस्कार कितना कष्टसाध्य बना था! उस समय उनकी आयु बत्तीस वर्षकी थी।

इस सारे समयमें पण्डितजीने केवल अभ्यास ही किया हो ऐसा नहीं है; बंगभंगसे शुरू हुए राष्ट्रीय आन्दोलन और स्वातंत्र्ययुद्धकी सभी अवस्थाओंसे तथा देशकी सामाजिक एवं धार्मिक समस्याओंसे वे पूर्ण परिचित रहते थे। इस तरह उनके मानसका सर्वांगीण विकास होता रहा।

उसके पश्चात् कई वर्ष आगरामें रहकर और आवश्यकता उपस्थित होनेपर अन्यत्र जाकर जैन साधुओंको पढ़ानेका कार्य उन्होंने किया। इसके बाद तो उनके बहुमुखी पाण्डित्य और खास करके दार्शनिक विद्वत्तासे प्रेरित होकर १९२१ ईसवीमें महात्मा गाँधीजीने उन्हें गुजरात विद्यापीठके पुरातत्त्वमन्दिरमें भारतीय दर्शनोंके अध्यापकके पदपर बुला लिया। वहाँ नौ–दस वर्षके कार्यकालमें गाँधीजीके सम्पर्कने उनके जीवन पर गहरा प्रभाव डाला। इस अवधिमें पण्डितवर्य श्री बेचरदासजीके सहयोगसे उन्होंने जैन-न्यायके एक प्राचीन और आकर ग्रन्थ 'सन्मतितर्क'का ऐसा सम्पादन किया कि जिससे उनकी विद्वत्ता देश–विदेशमें फैल गई।

ई० १९३०में स्वतंत्रताका अहिंसक युद्ध शुरू हुआ उसके परिणामस्वरूप विद्यापीठ बन्द हो गई। पण्डितजी डेढ़–दो सालके लिए शान्तिनिकेतन चले गये और वहाँ रहकर अंग्रेजी भाषाका ज्ञान उन्होंने प्राप्त कर लिया।

ई० १९३३से १९४३के अन्ततक पण्डितजीने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयमें जैन दर्शनके अध्यापकके रूपमें कार्य किया। इस कालमें उन्होंने अनेक ग्रन्थोंका सम्पादन–लेखन किया तथा अनेक चेतन–ग्रन्थ (विद्वान्) भी तैयार किये।

ई० १९४४से पण्डितजी निवृत्त हुए। उसके पश्चात् वे यद्यपि किसी भी संस्थामें बँधकर नहीं रहे हैं फिर भी उनकी यह निवृत्ति अखण्ड विद्यासाधनाकी प्रवृत्तिसे परिपूर्ण रही है। १९४७की सालसे पण्डितजी अहमदाबादमें ही रहते हैं।

पण्डितजीके सामाजिक और धार्मिक विचार सर्वदा प्रगतिशील और क्रान्तिकारी रहे हैं। अज्ञान, अन्धश्रद्धा और साम्प्रदायिक संकुचितताकी वे हमेशा कड़ी आलोचना करते हैं। मानव-मात्रकी तथा स्त्री-पुरुषकी समानता ही पण्डितजीका सामाजिक आदर्श रहा है। दार्शनिक क्षेत्रमें तुलनात्मक समन्वयकारी विवेचना उनके दार्शनिक विचारोंकी विशेषता है। विचार कोई भी हो, इतिहासदृष्टिसे उसे परखना और सारासारका विवेक करना—यह उनकी अपनी विचारधाराकी चाभी है।

राष्ट्रीय प्रश्नोंमें पण्डितजी सदा सजीव रस लेते रहते हैं। गाँधीजीकी अहिंसा और रचनात्मक दृष्टिसे वे अत्यन्त प्रभावित हुए हैं। आश्रम-जीवनका अनुभव लेनेके लिए उन्होंने गाँधीजीके साथ चक्की पीसनेका भी सुअवसर लिया है।

सत्यशोधन पण्डितजीकी अखण्ड विद्योपासनाकी नींव है। कुछ भी लिखना हो तब 'नामूलं लिख्यते किंचित्'के आदर्शका वे दृढतापूर्वक पालन करते हैं। सतत जाग्रत जिज्ञासा और पुरुषार्थपरायणता—यह पण्डितजीके उल्लासपूर्ण जीवनकी कुंजी है। भारतके भिन्न-भिन्न दर्शनोंके बीच विरोधका परिहार करके समन्वयकी स्थापना करना—यह पण्डितजीकी विद्वत्ताका अद्वितीय अर्पण है।

सादा, स्वाधीन और मितव्ययी जीवन पण्डितजीका जीवन-आदर्श है। अपना भार दूसरे किसी पर न पड़े इसके लिए पण्डितजी सदा जागरूक रहते हैं, और चाहे जैसी कठिनाईमें भी अपने चित्तकी प्रसन्नता क़ायम रखते हैं। खान-पान, वाचन-लेखन और घूमने-फिरनेमें वे सदा नियमित रहते हैं। पण्डितजी सही अर्थमें जीवनदृष्टिके कलाकार हैं।

जीवनको असार कहकर उसे तुच्छ मानना पण्डितजीको कभी पसन्द नहीं आता। उनकी जीवन–दृष्टि सर्वदा मांगल्यपूर्ण ही रही है; और इस मांगल्यमय दृष्टिने ही उनके जीवनको मंगलमय, आनन्दमय और तेजस्वी बनाया है।

पण्डित सुखलालजीकृत ग्रन्थ

आगमिक

(१) **आत्मानुशास्तिकुलक**—मूल प्राकृत; गुजराती अनुवाद।

(२–५) **कर्मग्रन्थ १ से ४**—देवेन्द्रसूरि कृत; मूल प्राकृत; हिन्दी अनुवाद, विवेचन, प्रस्तावना, परिशिष्टयुक्त।

(६) **दंडक**—पूर्वाचार्यकृत प्राकृत जैन प्रकरण ग्रंथका हिन्दी सार।

(७) **पंच प्रतिक्रमण**—जैन आचार-विषयक ग्रन्थ; मूल प्राकृत; हिन्दी अनुवाद, विवेचन, प्रस्तावना युक्त।

(८) **जैन दृष्टिए ब्रह्मचर्यविचार**—गुजरातीमें, पंडित बेचरदास-जीके सहयोगसे।

(९) **तत्त्वार्थसूत्र**- उमास्वाति वाचककृत संस्कृत; सार, विवेचन, विस्तृत प्रस्तावना युक्त; गुजराती और हिन्दीमें।

(१०) **निर्ग्रंथ संप्रदाय**—महत्त्वके प्राचीन तथ्योंका ऐतिहासिक निरूपण; हिन्दीमें।

(११) **चार तीर्थंकर**—भगवान ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर संबंधी लेखोंका संग्रह; हिन्दी तथा गुजरातीमें।

दार्शनिक

(१२) **सन्मतितर्क**—मूल प्राकृत सिद्धसेन दिवाकरकृत; टीका (संस्कृत) श्री अभयदेवसूरिकृत; पाँच भाग। छटा भाग मूल और गुजराती सार, विवेचन तथा प्रस्तावना सहित; पं. बेचरदासजीके सहयोगसे। (हिन्दी छप रहा है और छठे भागका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकट हुआ है।)

(१३) **न्यायावतार**—सिद्धसेन दिवाकरकृत; मूल संस्कृत; अनुवाद, विवेचन, प्रस्तावनायुक्त।

(१४) **प्रमाणमीमांसा**—हेमचंद्राचार्यकृत; मूल संस्कृत; विस्तृत–तुलनात्मक हिन्दी प्रस्तावना तथा टिप्पणयुक्त।

(१५) **जैनतर्कभाषा**—उपाध्याय यशोविजयजीकृत; मूल संस्कृत; संस्कृत टिप्पणयुक्त, हिन्दी प्रस्तावना।

(१६) **हेतुबिन्दु**—बौद्ध न्यायका संस्कृत ग्रन्थ; धर्मकीर्ति कृत; टीकाकार अर्चट; अनुटीकाकार दुर्वेक मिश्र; अंग्रेजी प्रस्तावनायुक्त।

(१७) **ज्ञानबिन्दु**—उपाध्याय यशोविजयजी कृत; मूल संस्कृत; हिन्दी प्रस्तावना तथा संस्कृत टिप्पणयुक्त।

(१८) **तत्त्वोपप्लवसिंह**—जयराशि कृत; चार्वाक परम्पराका संस्कृत ग्रन्थ; अंग्रेजी प्रस्तावनायुक्त।

(१९) **वेदवादद्वात्रिंशिका** सिद्धसेन दिवाकरकृत; संस्कृत; उपनिषदोंके साथ तुलना, सार, विवेचन, प्रस्तावना; गुजराती एवं हिन्दीमें।

(२०) **अध्यात्मविचारणा** गुजरात विद्यासभाकी 'श्री पोपटलाल हेमचंद्र अध्यात्म व्याख्यानमाला के अंतर्गत आत्मा, परमात्मा और साधनाके संबंधमें दिये गये तीन व्याख्यान; गुजराती तथा हिन्दीमें।

(२१) **भारतीय तत्त्वविद्या**—महाराजा सयाजीराव यूनिवर्सिटी, बड़ौदाके तत्त्वावधानमें महाराजा सयाजीराव ऑनरेरियम लेक्चर्सके अंतर्गत जगत्, जीव और ईश्वरके संबंधमें दिये गये पाँच व्याख्यान; गुजराती तथा हिन्दीमें। (इनका अंग्रेजी अनुवाद भी तैयार हो रहा है।)

योग

(२२) **योगदर्शन**—मूल पातंजल योगसूत्र; वृत्ति उपाध्याय यशोविजयजी कृत; तथा श्री हरिभद्रसूरि कृत प्राकृत योगविंशिका मूल, टीका (संस्कृत) उपाध्याय यशोविजयजी कृत; हिन्दी सार, विवेचन तथा प्रस्तावनायुक्त।

(२३) **आध्यात्मिक विकासक्रम**—गुणस्थानके तुलनात्मक अध्ययन संबंधी तीन लेख।

(२४) **प्राचीन गुजरातना एक आचार्य हरिभद्रसूरिनो भारतीय दर्शन अने योगपरंपरा उपर उपकार**—बम्बई युनिवर्सिटीमें ठक्कर वसनजी माधवजी व्याख्यानमालामें दिये गये पाँच व्याख्यान; गुजराती तथा हिन्दीमें छप रहे हैं।

प्रकीर्ण

(२५) **धर्म और समाज**—लेखोंका संग्रह।

(२६) **दर्शन अने चिन्तन** भाग १-२—दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि विषयोंके गुजराती लेखों व निबन्धोंका संग्रह।

(२७) **दर्शन और चिन्तन**—दार्शनिक, धार्मिक आदि विषयोंके हिन्दी लेखों एवं निबन्धोंका संग्रह।

पुरोवचन

बड़ौदा विश्वविद्यालयके तत्त्वावधानमें चलती 'सर सयाजीराव गायकवाड़ ऑनरेरियम लेक्चर सिरीज़'में व्याख्यान देनेका आमंत्रण मुझे मिला, और मैं प्रस्तुत व्याख्यान दे सका इसके लिए उक्त लेक्चर सीरीज़के व्यवस्थापक और ख़ास तौर पर बड़ौदा विश्वविद्यालयके तत्कालीन कुलपति विदुषी श्रीमती हंसाबहन मेहताका मुझे सर्वप्रथम हार्दिक आभार मानना चाहिए। उनकी ओरसे इस सम्मानप्रद सिरीज़में व्याख्यान देनेका निमंत्रण न मिला होता, तो जिस रूपमें ये व्याख्यान तैयार हुए हैं उस रूपमें मेरे जीवनकालमें लिखनेका अवसर शायद ही आता। इन व्याख्यानोंमें चर्चित विषय मनमें तो संस्कारके रूपमें पड़े हुए थे, परन्तु उन्हें सुग्रथित रूपसे व्यक्त करनेका कार्य एकाग्रता एवं परिश्रम दोनोंकी अपेक्षा रखता था। बड़ौदा विश्वविद्यालयने यह कार्य करनेका अवसर मुझे दिया, यह मेरे जीवनका एक विशेष आनन्दोत्सव है ऐसा मैं समझता हूँ।

मैंने चाहा होता तो मैं ये व्याख्यान राष्ट्रभाषा हिन्दीमें लिख सकता था, और हिन्दीमें लिखे होते तो इनका वाचक-वर्तुल भी बड़ा प्राप्त होता। इन सबके बावजूद मैंने मेरी मातृभाषा गुजरातीको पसन्द किया, उसका एक और मुख्य कारण तो यह है कि मैं मातृभाषाके माध्यम द्वारा अनेक विषयोंकी शिक्षाका ही नहीं, उन-उन विषयोंके उच्च और उच्चतर प्रशिक्षणका भी समर्थक रहा हूँ। इसलिए मेरे विषयका मातृभाषामें ही निरूपण करनेका धर्म मेरे लिए आवश्यक हो गया। इस धर्मका पालन करते समय मुझे गुजराती भाषाकी विशिष्ट शक्तिका पहलेकी अपेक्षा अधिक भान हुआ। कोई भी

सच्चा अभ्यासी अपने विषयकी प्ररूपणा मातृभाषामें करनेका प्रामाणिक प्रयत्न करे, तो उस विषयमें वह विशेष सफलता प्राप्त कर सकता है और मातृभाषाके संवर्धन एवं विकासके साथ ही उसका आन्तरिक बल भी प्रकट कर सकता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रादेशिक भाषाओंमें रचित विशिष्ट साहित्य अन्तमें तो राष्ट्रभाषाका सामर्थ्य बढ़ाता है और उसके साहित्यमें विरल अभिवृद्धि करता है।

गुजरातीमें होने पर भी यदि इन विचारोंमें कुछ सत्त्व जैसा होगा तो वे राष्ट्रभाषामें अवतीर्ण होकर उसे कुछ दीप्त ही करेंगे और यदि वैसा कुछ भी स्थायी सत्त्व इनमें नहीं होगा तो पहले ही से राष्ट्रभाषामें लिखने पर भी एक कोनेमें ही पड़े रहेंगे। इस विचारके कारण मैंने अपने आपको एक तरहसे कड़ी कसौटी पर चढ़ाया है। अब परीक्षा करनेका काम तज्ज्ञ निष्णातोंका है।

कुछ भी लिखना हो तब प्रश्न उपस्थित होता है कि वह लोकभोग्य बने इस तरह लिखना या विद्वद्भोग्य बने इस तरह लिखना। शिक्षाका दैनन्दिन बढ़ता जाता प्रसार, पाठकोंकी बढ़ती जाती संख्या और साहित्यका बढ़ता जाता प्रचार—यह सब देखने पर लोकभोग्य बने इस तरह लिखना चाहिए ऐसा मन कहता है। परन्तु मैं दूसरी दिशाकी ओर चला। उसका एक कारण तो यह है कि जिस सिरीज़के तत्त्वावधानमें मुझे व्याख्यान देने थे उसकी कक्षा सामान्य कोटिकी नहीं है। दूसरा कारण मेरे सामने यह भी रहा है कि तत्त्वज्ञान विषयक भिन्न-भिन्न प्रश्न और उससे सम्बद्ध परम्पराओंका सही ख़्याल पाना हो, तो वह विचारकी ऊपरी सतह पर रहनेसे प्राप्त नहीं हो सकता। यदि कोई उसकी गहराईमें पैठनेका प्रयत्न न करे, तो अन्ततोगत्वा तत्त्वज्ञानके विषय मात्र स्थूल और व्यावहारिक-जैसे

बन जायँ। इसके विपरीत, यदि कोई अपनेसे हो सके उतनी गहराई लानेका प्रयत्न करे, तो उस विषयके बारेमें सच्चा ज्ञान प्राप्त करनेकी दिशा प्रतिदिन विशेष और विशेष खुलती जायगी। जब ऐसे विषय गहराई पकड़ते जाते हैं तब उनके लिए उपयुक्त भाषा-परिभाषा भी क्रमशः अधिक स्थिर और सुग्रथित बनती जाती है। ऐसी सामग्री आगे चलकर विषयका लोकभोग्य निरूपण करनेमें बहुत कामकी सिद्ध होती है।

संस्कृत, प्राकृत एवं पालि जैसी शास्त्रीय भाषाओंमें अनेक विषयोंसे सम्बद्ध जो सूक्ष्म और सूक्ष्मतर चर्चाएँ हुई हैं, उन्हींके कारण उस-उस भाषाका साहित्य गौरव तथा स्थायित्व पा सका है। अंग्रेज़ी आदि पाश्चात्य भाषाओंमें उस-उस विषयके बारेमें लिखनेवाले सब कुछ, मात्र लोकभोग्य बने इस दृष्टिसे, नहीं लिखते। यदि उन्होंने भी यही मार्ग अपनाया होता, तो आज पाश्चात्य भाषाओं और उनके साहित्यका जितना गौरव है उतना कभी न होता। इस और ऐसी दूसरी विचारणाके परिणामस्वरूप मैंने इस व्याख्यानमालामें लोक-भोग्यताकी राह छोड़ दी है।

परन्तु मैं स्वयं तो ऐसा मानता हूँ कि लोकभोग्य साहित्य भी तैयार होना ही चाहिए। उसका मूल्य तनिक भी कम नहीं है; उल्टा, वैसे साहित्यका निर्माण होनेसे और प्रचारमें आनेसे वाचकवर्ग धीरे धीरे बढ़ता जाता है, और उसमेंसे छोटा-सा भी विद्वद्भोग्य साहित्यको समझ सके ऐसा जिज्ञासुवर्ग तैयार होता है। यदि इन व्याख्यानोंमें चर्चित विषय योग्य रूपमें उपस्थित किये गये होंगे और उनमें भ्रमके लिए अवकाश नहीं होगा अथवा कमसे कम होगा, तो उसके आधार पर ही कोई कुशल व्यक्ति लोकभोग्य रूपमें इन्हें दूसरा रूप भी दे सकेगा।

कॉलेजों और विश्वविद्यालयोंमें भारतीय तत्त्वज्ञानकी भिन्न-भिन्न शाखाओंका अध्ययन-अध्यापन चलता है और शायद उसके बढ़ते जानेकी भी सम्भावना है। तत्त्वज्ञानके ये अभ्यासी और अध्यापक अधिकांशतः अंग्रेज़ीमें लिखित उस-उस विषयसे सम्बद्ध पुस्तकोंका उपयोग करते हैं और शक्य हो वहाँ संस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओंमें लिखे गये उच्च कोटिके ग्रन्थोंका भी सहारा लेते हैं। विद्यार्थी एवं अध्यापक उस साहित्यका उपयोग तो करते हैं, परन्तु मैंने बहुत बार देखा है कि उन्हें उस-उस विषयको जाननेकी अल्प वा अधिक सामग्री यदि मातृभाषामें अथवा राष्ट्रभाषामें मिले, तो उनकी समझ विशेष स्पष्ट होती है और उन्हें उस विषयमें, समझ बढ़नेके कारण, रस भी पड़ता है। बहुत बार विद्यार्थी ही नहीं, अध्यापक तक पूछते हैं कि तत्त्वज्ञानके अमुक अमुक मुद्देके बारेमें सर्वग्राही और तुलनात्मक निरूपण करनेवाली कौनसी पुस्तक गुजराती अथवा हिन्दीमें है? उनकी यह पृच्छा और माँग मेरे सामने थी। इसीलिए मैंने उस माँगको थोड़ी भी सन्तुष्ट कर सके और अभ्यासमें कुछ सहायक हो इस दृष्टिसे इन व्याख्यानोंमें तत्त्वज्ञानके मुख्य तीन विषय—जगत्, जीव और ईश्वरके आसपास भारतीय परम्पराओंमें जो विचार-पुष्प विकसित हुए हैं उनका अपने ढँगसे गुम्फन करनेका प्रयत्न किया है। इनकी उपयोगिताका मूल्याङ्कन तो अभ्यासी ही कर सकते हैं।

पाँचवें व्याख्यानके अन्तमें 'दर्शन और जीवनके' शीर्षकके नीचे (पृ. १३६ से) जो उपसंहार ('छठा व्याख्यान' शीर्षक गलत है) किया है उसे पहले पढ़कर बादमें पाठक इन व्याख्यानोंका अध्ययन करेंगे, तो उन्हें विषय-निरूपणका क्रम कुछ ध्यानमें आ सकेगा और विषयको समझनेमें कुछ सरलता होगी। पाँचों ही व्याख्यान भारतीय तत्त्वविद्याको लक्ष्यमें रखकर लिखे गये हैं। प्रत्येक व्याख्यानके मुख्य विषयका निर्देश उस-उस व्याख्यानके आरम्भमें किया

गया है और उस-उस विषयसे सम्बद्ध जिन जिन छोटे-बड़े मुद्दोंकी चर्चा की गई है उनके उपशीर्षक भी यथास्थान दे दिये गये हैं। व्याख्यानोंके अन्तमें एक शब्दसूचि दी गई है, जिसमें पारिभाषिक शब्द, व्यक्ति, ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार आदिका स्थान-निर्देश किया गया है। जिन जिन ग्रन्थोंका मैंने आधारके रूपमें उपयोग किया है और जो ग्रन्थ पाद-टिप्पणोंमें निर्दिष्ट हैं उनका भी शब्दसूचिमें समावेश किया गया है।

मैं अहमदाबादमें था और व्याख्यान लिखनेका अवसर आने पर काशी चला गया। वहाँ लगभग तीन महीने रहा, परन्तु वे व्याख्यान तो डेढ़-दो महीनोंमें ही पूरे हो गये थे। काशीमें जानेसे जो शीघ्रता हुई और लिखनेमें जो विशेष अनुकूलता रही उसका यश बहुश्रुत और कर्मठ पण्डित श्री दलसुख मालवणियाके हिस्सेमें जाता है। मैं वहाँ गया न होता और जाने पर भी उनका सचेतन सहकार मुझे न मिला होता, तो मेरा यह काम विलम्बमें पड़ता और कुछ अंशमें शिथिल और अधूरा-सा भी बनता। वह मेरे विद्यार्थी तो हैं ही, परन्तु उससे भी अधिक मेरे सहृदय सखा हैं। अतएव उनके विषयमें आभार-प्रदर्शक शब्द न लिखकर यहाँ केवल स्मरण ही कर लेता हूँ।

कच्चा मसौदा तैयार करनेके बाद भी उसके ऊपर अनेक तरहसे हाथ चलाना पड़ता है। मैं स्वयं तो हूँ परचक्षुप्रत्यय, परन्तु मुझे अनेक चक्षुष्मान् मित्र मिलते ही रहते हैं। अहमदाबाद लौटकर उस कच्चे मसौदे परसे पक्की प्रतिलिपि तैयार करनेमें जिन अनेक मित्रोंने सद्भाव-पूर्वक सहायता दी है उन सबका नामोल्लेखपूर्वक स्मरण करके यहाँ स्थान रोकना नहीं चाहता, परतु तीन मित्रों का उल्लेख किये बिना रह भी नहीं सकता। गुजरात विद्यासभाके भो० जे० विद्याभवनके अध्यक्ष और विविध विषयोंके तलस्पर्शी विद्वान् श्रीयुत रसिकलाल छो० परीख मेरे चिर-मित्र और चिर-साथी भी हैं। मैं जब कभी गम्भोर विषयके ऊपर

लिखता या विचारता हूँ, तब उनकी सम्मतिकी मुद्रा लगनेके पश्चात् ही उसे लोगोंके समक्ष उपस्थित करनेका सर्वदासे सोचता आया हूँ। फलतः मैंने मेरे ये पाँचों व्याख्यान उन्हें सुनाये। उन्होंने अपनी सम्मति दी और यत्र-तत्र सुधारणाकी सूचना भी की। उनके इस कार्यका मेरे मन बहुत बड़ा मूल्य है। डॉ. इन्दुकला एच. झवेरी, जो मेरी छात्रा रही हैं, ने व्याख्यानोंकी पक्की प्रतिलिपि तैयार करनेमें तो खूब श्रम उठाया ही है, साथ ही सूचिका टेढ़ा और थकानेवाला काम भी उन्होंने ही किया है।

बड़ौदा विश्वविद्यालय के गुजराती विभागके अध्यक्ष और ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूटके डाइरेक्टर मेरे युवा मित्र डॉ. भोगीलाल साँडेसराका प्रारम्भसे ही अनुरोध था कि मैं इन व्याख्यानोंके आमंत्रणको स्वीकार करूँ। मैंने स्वीकार किया। व्याख्यान देनेके लिए बड़ौदा गया, तब उन्हींके यहाँ रहा। यद्यपि वह स्वयं तो उस समय अमेरिकामें थे, फिर भी उनकी पत्नी श्रीमती चन्द्रकान्ता बहन उनकी सच्ची प्रतिनिधि सिद्ध हुईं। इस प्रकार इन व्याख्यानोंके आमंत्रणके स्वीकारसे लेकर उनके देने और ग्रन्थस्थ होने तककी सुदीर्घ प्रक्रियामें साँडेसरा-कुटुम्बका जो ममतापूर्ण साथ रहा है उसका स्मरण किये बिना यह पुरोवचन समाप्त नहीं कर सकता।

सरित्कुंज, अहमदाबाद–९
ता० १८-११-१९५८

सुखलाल

अनुक्रमणिका

व्याख्यान ४

व्याख्यान ५

उपसंहार

भारतीय तत्त्वविद्या

व्याख्यान १

तत्त्वविद्या : प्रारम्भ और विषय

(जगत्, जीव, ईश्वर)

मेरा विषय है तत्त्वविद्या और वह भी भारतीय। भारतमें जो चिन्तन हुआ है, जो आजतक अनेक रूपमें सुरक्षित रहा, विकसित हुआ और भारतके बाहर भी फैला है, उसका इतिहास जितना लम्बा हैं उतना ही, और शायद उससे भी अधिक, रोचक एवं उत्साहप्रेरक भी है। ब्योरेसे इसकी चर्चा करनेका यह स्थान नहीं है और मेरी भी मर्यादा है। अतएव इस विषय के कतिपय विशेष महत्त्वके प्रश्न और मुद्दोंके बारे में ही मैं अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहता हूँ।

विश्वकी लम्बाई, चौड़ाई और गहराईका न तो आदि है और न अन्त; और आदि-अन्त न होनेके कारण ही उसका मध्यबिन्दु[1] कौन-सा है यह भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार समग्र विश्व ही नहीं, उसमें रही हुई छोटीसे छोटी समझी जानेवाली एक-एक वस्तु अथवा उसमें घटित होनेवाली एक-एक घटना अपने पूर्ण स्वरूपमें गूढ़ है, अगम्य है। उसकी गूढ़ता ऐसी निःसीम और अनन्त है कि मानवजातिके कितने

---

१. नैवाग्रं नावरं यस्य तस्य मध्यं कुतो भवेत्।

— माध्यमिककारिका ११.२

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा।

— माण्डूक्यकारिका २.६

जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कओ सिया?

— आचारांगसूत्र १.४,४

ही युगोंके कितने ही प्रयत्नोंके बावजूद, एक तरहसे,[1] वह गूढ़ता और अगम्यता अब भी पूरे और यथार्थ रूपमें सुलझाई नहीं जा सकी और कभी पूर्ण रूपसे सुलझेगी ऐसी प्रत्याशा भी शायद ही रहती है। परन्तु दूसरी ओर मानव-बुद्धि और उसकी जिज्ञासा ये दो वस्तुएँ ऐसी हैं कि वे गूढ़ और अगम्य समझी जानेवाली वस्तुओंके स्वरूपकी गहराई नापनेका पुरुषार्थ किये बिना चैन ही नहीं लेतीं। मात्र शारीरिक जीवन, भौतिक जीवन अथवा प्रजातन्तुके जीवनकी कितनी भी समृद्धि क्यों न हो, पर उससे मानवीय जिजीविषा तृप्त नहीं होती। उसकी जिजीविषाकी जड़ें गहरी हैं। वे जड़ें अर्थात् अज्ञातको जानना; जानना सो भी असंदिग्ध और अभ्रान्त। इतना ही नहीं, जो ज्ञात हुआ हो उसे सुरक्षित रखना, उसकी पुनः पुनः परीक्षा करना और उसमें से उठनेवाले नये प्रश्नोंके बारेमें पुनः खोज करना। जिजीविषाकी ऐसी जड़ोंने मनुष्यको अपने बारेमें 'अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्' जैसी भावनावाला बना दिया है। इसी भावनाके कारण मनुष्यने अगम्यको गम्य बनाने का प्रयत्न किया है। इन प्रयत्नों की शृंखला ही विद्या है।

तत्त्व शब्दके अर्थ

एक कोशकारने 'तत्त्व' पदका संक्षेपमें अर्थनिर्देश करते हुए कहा है कि 'तत्त्वं ब्रह्मणि याथार्थ्ये।' अर्थात् तत्त्व यानी ब्रह्म और वस्तुका

---

१. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
— तैत्तिरीयोपनिषद् २.४

सव्वे सरा नियट्टन्ति। तक्का जत्थ न विज्जई।
मई तत्थ न गाहिया। — आचारांगसूत्र १.५.६.

इयं विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद॥
—ऋग्वेद, नासदीयसूक्त ७

यथार्थ स्वरूप । यों तो 'तत्त्व'[1] शब्द अनेक स्थानों में और भिन्न भिन्न प्रसंगों पर विविध अर्थोंमें प्रयुक्त देखा जाता है, परन्तु उपर्युक्त दोनों अर्थोंमें इतर अर्थोंकी छाया का संग्रह हो जाता है । यहाँ ब्रह्म का अर्थ मूल कारण लें और यथार्थताका भाव किसी भी वस्तु या घटनाकी यथावत् स्थिति—मूलके साथ संवादी स्थिति लें तो फिर बाकीके दूसरे अर्थोंका भाव समझना सरल हो जायगा ।

तत्त्व अर्थके 'मूल कारण' एवं 'यथार्थता' ऐसे जो दो प्रकार (Ontological और Epistemological) फलित हुए हैं वे मान-

---

१. अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम् ।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम् ॥

एवं तावदार्याणां जातिजरामरणसंसारपरिक्षयाय कृतकार्याणां तत्त्वलक्षणम् । लौकिकं तु तत्त्वलक्षणमधिकृत्योच्यते—

प्रतीत्य यद् यद्भवति न हि तावत् तदेव तत् ।
न चान्यदपि तत् तस्मान्नोच्छिन्नं नापि शाश्वतम् ॥

—माध्यमिककारिका १८.९-१०

किं पुनस्तत्त्वम् ? सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भावः । सत्सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति । असच्चासदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति ।

—न्यायभाष्य १.१.१

किं पुनस्तत्त्वम् ?... तत्त्वं पदार्थानां यथावस्थितात्मप्रत्ययोत्पत्तिनिमित्तत्वम् । यो यथावस्थितः पदार्थः स तथाभूतप्रत्ययोत्पत्तिनिमित्तं भवति यत् तत् तत्त्वम् ॥

—न्यायवार्तिक १.१.१

द्रव्यस्य हि तत्त्वमविक्रिया, परानपेक्षत्वात् । विक्रिया न तत्त्वं, परापेक्षत्वात् ।

—तैत्तिरीयोपनिषद्, शांकरभाष्य पृ. ३८१

प्रकृत्यपेक्षत्वात् प्रत्ययस्य भावसामान्यसंप्रत्ययः तत्त्ववचनात् ॥५॥ तदित्येषा प्रकृतिः सामान्याभिधायिनी, सर्वनामत्वात् । प्रत्ययश्च भावे उत्पद्यते । कस्य भावे ? तदित्यनेन योऽर्थ उच्यते । कश्चासौ ? सर्वोऽर्थः । अतस्तदपेक्षत्वाद्भावस्य भावसामान्यमुच्यते तत्त्वशब्देन । योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः ।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक १.२.५

वीय जिज्ञासाका रुझान, गति या वृत्ति सूचित करते हैं। पहले ही से यह जिज्ञासा विश्वकी घटनाओंके मूल कारणको जाननेकी ओर अभिमुख रही है। मानवबुद्धिके विकासका जो इतिहास उसकी कृतियों परसे फलित होता है वह एक तत्त्वविद्या शब्दसे ही सूचित होता है। इस विकासका पहला सोपान है अविद्या अथवा अज्ञानका किसी भी तरहसे सामना करना, उसे दूर या कम करना। दूसरा सोपान है अज्ञानका निवारण करके मात्र ज्ञान प्राप्त करना; इतना ही नहीं, प्राप्त ज्ञान भ्रम और संशयसे भी पर है ऐसा निश्चय करना। तीसरा सोपान है सिर्फ़ ऊपर ऊपरकी हक़ीकतोंमें ही सन्तुष्ट न रहकर उसके कारणकी गवेषणा करना और वह गवेषणा भी अन्तिम कारण पर्यन्त।

विकासके इन तीन सोपानोंको यथासम्भव सिद्ध करनेमें अनेक युगों और अनेक सम्प्रदायोंके अनेक व्यक्तियोंके पुरुषार्थ का हिस्सा है। इसके प्रतीकके रूपमें जो लगभग तीन हज़ार वर्ष जितना तो प्राचीन साहित्य हमारी समक्ष है उसका निर्विवाद रूपसे एक स्वर यह है कि सत्य ही खोजना, सत्य ही सोचना, सत्य ही बोलना और सत्य ही आचरना।

सत्यनिष्ठा

प्रश्नोपनिषद्‌में छठा प्रश्न पूछनेवाला सुकेशा भारद्वाज है। वह अपने गुरु पिप्पलादसे प्रश्न पूछते समय जो एक बात कहता है वह जिज्ञासुके हृदयमें रही हुई लगनकी द्योतक है। सुकेशा गुरु से कहता है कि मेरे पास एक बार हिरण्यनाभ कौसल्य नामका राजपुत्र आया और मुझसे पूछा कि तू षोडशकल पुरुषको जानता है? मैंने उस राजपुत्रसे कहा कि मैं नहीं जानता। यदि मैं जानता होता तो तुझे क्यों नहीं कहता? जो झूठ बोलता है वह मूल मेंसे ही वृक्षकी भाँति सूख जाता है, नष्ट

हो जाता है[१]। सुकेशाने राजपुत्रको जो यह जवाब दिया उसमें अज्ञानकी स्वीकृति और सत्यनिष्ठा पूर्ण रूपसे देखी जाती है। सत्यकाम जाबालकी बात बहुत प्रसिद्ध है। उसे उसकी माता उसके पिता के बारे में तनिक भी जानकारी न दे और फिर भी वह कुमार गुरुसे जैसा है वैसा तथ्य कहे और इस पर विद्वान् सत्यप्रिय गुरु उस कुमारकी मात्र सत्यनिष्ठाके कारण ही 'सत्यकाम' कहकर प्रतिष्ठा करे और सर्वदाके लिए उदाहरण उपस्थित करे कि सच्चा ब्राह्मणत्व सत्यनिष्ठामें रहा हुआ है[२] यह हक़ीकत गुरु-शिष्य परम्परामें सत्यका कितना ऊँचा स्थान था इसकी सूचक है। उपनिषदोंमें ऐसे सत्यनिष्ठाके सूचक अनेक आख्यान हैं।

यहाँ ईशावास्य का वह शाश्वत मंत्र याद आये बिना नहीं रहता--

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

इसमें ऋषि पूषन्—देवसे प्रार्थना करते हुए जो माँगते हैं वह यह है कि जिस लुभानेवाले आवरणसे सत्य ढँक जाता हो उस आवरणको तू दूर कर, जिससे सत्यका भान करानेवाली दृष्टि खुल जाय।

---

१. अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन्! हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत। षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ? तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद। यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति। समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति। तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्। स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वां पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥ --प्रश्नोपनिषद्, षष्ठ प्रश्न

२. तं होवाच किंगोत्रो नु सोम्यासीति। स होवाच नाहमेतद् वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्मि। अपृच्छं मातरम्। सा मा प्रत्यब्रवीद्, बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साऽहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि। जबाला तु नामाहमस्मि, सत्यकामो नाम त्वमसीति। सोऽहं सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति ॥४॥ तं होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति।

--छान्दोग्योपनिषद् ४.४.४

सिद्धार्थ गौतमने छः वर्षकी कठोर साधना क्यों की ? जवाब एक ही है कि सत्य जानने के लिए। सिद्धार्थ जब मृगदाव-वनमें अपनेको छोड़कर चले गये पहलेके पाँच साथियों के समक्ष सर्व प्रथम जाते हैं और वह उन्हें सुननेके लिए भी तत्पर नहीं दीखते, तब बुद्ध उन्हें एक ही वचनसे जीत लेते हैं। वह कहते हैं कि 'क्या भिक्षुओ ! तुम्हारे सामने मैं कभी झूठ बोला हूँ ?' इस एक ही वचनसे उन भिक्षुओंने सिर झुका दिया। इस वचन में बल कौनसा था ? एक ही बल और वह था सत्यशोध एवं सत्यनिष्ठा का[1]।

हम महावीरके नाम से अपरिचित नहीं हैं। उन क्षत्रियपुत्रने बारह वर्ष तक उग्र साधना की। वह चाहते तो त्यागके पहले दिनसे ही धर्मोपदेशका कार्य प्रारम्भ कर सकते थे। पर नहीं। इन साधकोंके रक्त-मांस एवं प्राणोंमें एक वस्तु एकरस हो गई थी कि जहाँतक आत्मबलसे सत्यकी शोध पूरी न हो और पूरा आत्मविश्वास न जमे, तबतक तत्त्वका उपदेश दिया ही नहीं जा सकता। सत्यज्ञानकी ऐसी अदम्य और उत्कट लगन सिर्फ़ आध्यात्मिक शोधकों तक ही मर्यादित नहीं रही है। ऐसी व्यग्रता तो विद्याके हरएक क्षेत्रमें व्याप्त दिखाई पड़ती है। यदि कोई शब्दशास्त्रका अभ्यासी हो, तो वह शब्दविद्याके प्रमेयोंको यथासम्भव अन्ततक जाननेका प्रयत्न करेगा। यही बात ज्योतिष, वैद्यक, अर्थशास्त्र आदि इतर वैज्ञानिक विद्याओंको भी लागू होती है।

'दर्शन'के अर्थ की मीमांसा

तत्त्वविद्या अर्थात् मुख्य रूपसे अध्यात्मविद्या। इसमें अधिभूत (बाह्य), अधिदैव (अभ्यन्तर) विषय आते हैं अवश्य, परन्तु अन्ततः

---

१ एवं वुत्ते भगवा पञ्चवग्गिये भिक्खू एतदवोच—"अभिजानाथ मे नो तुम्हे भिक्खवे इतो पुब्बे एवरूपं भासितं एतं ति। नो हे'तं भन्ते ति अरहं तथागतो सम्मासंबुद्धो। —महावग्ग १.१.७

उनका निरूपण अध्यात्मविद्यामें पर्यवसित होता है। इस तरह दूसरे सभी निरूपण, आख़िरकार अध्यात्मलक्षी होनेसे, अध्यात्मविद्याके अंग-प्रत्यंग ही बन जाते हैं।

तत्त्वविद्या, अध्यात्मविद्या या पराविद्याका 'दर्शन' शब्दसे भी व्यवहार होता है। भारतीय भाषाओंमें 'दर्शन', 'दार्शनिक साहित्य' अथवा 'दार्शनिक विद्वान्' जैसे शब्द प्रचलित हैं और इन सबका सीधा सम्बन्ध अध्यात्मविद्याके साथ है। यहाँ प्रश्न तो यह है कि दर्शन शब्दका प्रचलित और सिद्ध अर्थ तो है चक्षुर्जन्य ज्ञान, क्योंकि चाक्षुष ज्ञानके बोधक 'दृश्' धातु परसे यह शब्द निष्पन्न हुआ है; तो फिर उसका अतीन्द्रिय अध्यात्मज्ञानके अर्थमें किस दृष्टिसे प्रयोग होने लगा? इसका उत्तर उपनिषद्के कई वाक्योंमेंसे परोक्ष रूपसे भी मिल जाता है।

उपनिषदोंमें बहिरिन्द्रियोंकी शक्तिके बलाबल या तारतम्यका निर्देश करते हुए कहा है कि 'चक्षुर्वै सत्यम्' (बृहदा० ५.१४.४), 'चक्षुर्वै प्रतिष्ठा' (बृहदा० ६.१.३)। किसी बातमें विवाद होनेपर निर्णयके लिए साक्षीकी आवश्यकता होती है। उस समय दो साक्षी उपस्थित हों, जिनमेंसे एकने उस घटनाके बारेमें सिर्फ़ सुना ही हो और दूसरेने वह घटना आँखों देखी भी हो; तब सुननेवालेकी अपेक्षा देखनेवाले पर ही अधिक विश्वास रखा जाता है और उसकी बात सच्ची समझी जाती है। इस तरह श्रवणेन्द्रियकी अपेक्षा चक्षुका प्रामाण्य अधिक माना जाता है। इसी तरह चक्षु ही एक ऐसी इन्द्रिय है जो सम-विषम स्थानोंका अथवा उच्चावच प्रदेशोंका अन्तर दिखलाकर और मनुष्य एवं प्राणिमात्रको स्खलित होनेसे रोककर स्थिरता या प्रतिष्ठा प्रदान करती है[1]। इस प्रकार अन्य इन्द्रियोंकी तुलनामें चक्षुका स्थान सत्य एवं समत्वके समीप

---

१. चक्षुर्वै सत्यं, चक्षुर्हि वै सत्यम्। तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयाता-

अधिकाधिक है ऐसा उपनिषद् सूचित करते हैं। इसीलिए अन्य इन्द्रियजन्य ज्ञानोंकी अपेक्षा नेत्रजन्य ज्ञान, जो दर्शनके नामसे प्रसिद्ध है, का स्थान उत्कृष्ट है। व्यवहारमें दर्शनकी महिमा होनेसे ही 'साक्षी' शब्दका अर्थ भी वैयाकरणोंने 'साक्षात् द्रष्टा' किया है[1]।

व्यावहारिक और स्थूल जीवनमें दर्शन सत्यके समीप अधिकसे अधिक होनेसे वही दर्शन शब्द अध्यात्मज्ञानके अर्थमें प्रयुक्त हुआ। जिन ऋषि, कवि अथवा योगियोंने आत्मा-परमात्मा जैसी अतीन्द्रिय वस्तुओंका साक्षात्कार किया हो, अर्थात् जिन्हें ऐसी वस्तुओंके बारेमें अक्षोभ्य एवं संशयातीत प्रतीति हुई हो वे 'द्रष्टा' कहलाते हैं।

महमदर्शमहमश्रौषमिति। य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम तद्वै तत्सत्यं....

किंपुनस्तत्सत्यमित्युच्यते—चक्षुर्वै सत्यम्। कथं चक्षुः सत्यमित्याह—प्रसिद्धमेतच्चक्षुर्हि वै सत्यम्। कथं प्रसिद्धतेत्याह—तस्मात्—यद्यदीदानीमेव द्वौ विवदमानौ विरुद्धं वदमानावेयातामागच्छेयातामहमदर्शं दृष्टवानस्मीति। अन्य आहाहमश्रौषं त्वया दृष्टं न तथा तद्वस्त्विति। तयोर्य एवं ब्रूयादहमद्राक्षमिति। तस्मा एव श्रद्दध्याम। न पुनर्यो ब्रूयादहमश्रौषमिति। श्रोतुर्मृषा श्रवणमपि संभवति। न तु चक्षुषो मृषा दर्शनम्। तस्मान्नाश्रौषमित्युक्तवते श्रद्दध्याम। तस्मात्सत्यप्रतिपत्तिहेतुत्वात्सत्यं चक्षुः।

—बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकरभाष्य ५.१४.४

चक्षुर्वै प्रतिष्ठा। चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति।—

यद्येवमुच्यतां काऽसौ प्रतिष्ठा। चक्षुर्वै प्रतिष्ठा। कथं चक्षुषः प्रतिष्ठात्वमित्याह—चक्षुषा हि समे च दुर्गे च दृष्ट्वा प्रतितिष्ठति।

—बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकरभाष्य ६.१.३

१. 'साक्षाद् द्रष्टा।' साक्षातो द्रष्टेत्यस्मिन्नर्थे इन् नाम्नि स्यात्। साक्षी।

—सिद्धहेमशब्दानुशासन, लघुवृत्ति ७.१.१९७

यह बात सभापर्वगत द्यूतपर्वमें विदुरने सभाके समक्ष एक प्राचीन संवादका वर्णन करते हुए बहुत सुन्दर रूपमें उपस्थित की है—

समक्षदर्शनात् साक्ष्यं श्रवणाच्चेति धारणात्।
तस्मात्सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते॥ २.६१.७६

आध्यात्मिक पदार्थोंका उनका साक्षात् आकलन सत्यस्पर्शी होनेसे दर्शन कहा जाता है। इस तरह अध्यात्मविद्याके अर्थमें प्रचलित दर्शन शब्दका फलितार्थ यह हुआ कि आत्मा, परमात्मा आदि इन्द्रियातीत वस्तुओंका जो स्पष्ट, सन्देहरहित और इसीलिए अविचलित बोध होता है वही दर्शन है। दर्शन ज्ञानशुद्धि, तथा उसकी सत्यताकी पराकाष्ठा है। दर्शन अर्थात् ज्ञानशुद्धिका परिपाक। इस तरह हमने देखा कि अध्यात्मविद्याके अर्थमें रूढ़ दर्शन शब्दका असल—मूल भाव क्या है।

परन्तु इसके साथ दूसरे भी मुद्दे संकलित हैं। वे भी विचारने जैसे हैं। तत्त्वविद्या और तत्त्वदर्शनकी भाँति दूसरे भी कई शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त होते हैं; जैसे कि—तत्त्वचिन्तन, तत्त्वविचारणा, तत्त्व-जिज्ञासा और तत्त्वज्ञान आदि। ऊपर ऊपरसे देखनेवालेको तो ऐसा ही लग सकता है कि दर्शन, तत्त्वचिन्तन आदि उक्त शब्द पर्यायवाची होनेसे एक ही अर्थके बोधक हैं, पर शास्त्र एवं अनुभवकी मर्यादासे जाँचें तो वस्तुस्थिति ज़रा भिन्न प्रतीत होगी। हम यह वस्तुस्थिति जानें तभी समझमें आ सकता है कि दर्शन जैसी ज्ञानशुद्धिकी सर्वोपरि भूमिका पर पहुँचनेके लिए कितना और कैसा मानसिक व्यापार करना पड़ता है और उस व्यापारके मुख्य मुख्य सोपान कौन-से हैं तथा दर्शन एवं तत्त्वचिन्तन आदि उक्त शब्दोंकी अर्थच्छायामें क्या अन्तर है?

अतीन्द्रिय वस्तुओंका दर्शन सबको हठात् नहीं हो जाता। वहाँ तक पहुँचनेका क्रम है। उसमें मुख्य रूपसे तीन सोपान हैं[१]। पहले तो

१. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। मैत्रेयि! आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्॥

—बृहदारण्यकोपनिषद् २.४.५

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥

—योगसूत्र १.४८ के भाष्यमें उद्धृत

जिस तत्त्वके दर्शनकी लालसा हो उसके विषयमें अनुभवियोंके पाससे या अनुभवियोंके संगृहीत उद्गारों परसे जानना पड़ता है। यह हुई श्रवणभूमिका। जो सुना और उस परसे जो कुछ समझमें आया उसके ऊपर तर्क, न्याय एवं युक्तिके आधार पर अधिक चिन्तन-मनन करना पड़ता है। यह हुई दूसरी भूमिका। इसके उपरान्त विशेष एकाग्रताके साथ और क्लेशमुक्त चित्तसे अर्थात् अभिनिवेशरहित होकर वस्तुके हार्दमें प्रवेश करनेका प्रयत्न करना पड़ता है। यह हुई तीसरी भूमिका। ये तीन भूमिकाएँ यथावत् सिद्ध न हों तबतक दर्शन या साक्षात्कारकी भूमिका कभी भी सिद्ध नहीं होती, और इन तीन भूमिकाओंके सिद्ध होनेके पश्चात् दर्शनके प्राप्त होनेमें विलम्ब नहीं होता। इस तरह देखें तो दर्शन तत्त्वबोधका शिखर है और पूर्वकी तीन भूमिकाएँ उसके क्रमिक सोपान हैं। तत्त्वचिन्तन, तत्त्वविचारणा, तत्त्वजिज्ञासा और तत्त्वमीमांसा जैसे शब्द दर्शनकी सिद्धि के पहलेका मानसिक व्यापार सूचित करते हैं, नहीं कि दर्शन-व्यापार। परन्तु द्रष्टा विरल होते हैं, जबकि अध्यात्मजिज्ञासु अनेक सम्भवित हैं। कोई पहली भूमिकामें हो सकता है तो कोई दूसरी या तीसरीमें, पर उन सबके दर्शनाभिमुख होनेसे उनका पूर्ववर्ती क्रमिक मानसिक-व्यापार दर्शनके रूपमें व्यवहृत होता है; और इसीलिए बहुत बार दर्शनके पर्यायके रूपमें तत्त्वचिन्तन, तत्त्वविचारणा, तत्त्वजिज्ञासा जैसे शब्द लोकव्यवहार में ही नहीं, बल्कि शास्त्रों तकमें प्रयुक्त होते देखे जाते हैं।

बौद्ध परम्परामें इसी क्रमकी सूचक तीन प्रज्ञाएँ हैं, जैसेकि श्रुतमयी, चिन्तामयी और भावनामयी।

इतनी लम्बी चर्चाका उद्देश्य यही है कि हम दर्शन और चिन्तन आदि शब्दोंके अर्थकी छायाका अन्तर बराबर समझ लें। बहुत बार ऐसी समझ न होने के कारण हम केवल श्रवण, मनन या निदिध्यासनको

दर्शन समझकर उसके आधार पर ही अंतिम सत्यका दावा करके या तो सन्तुष्ट हो जाते हैं या फिर दूसरेके साथ मतभेद होने पर दुराग्रह सेने लगते हैं।

तत्त्वदर्शन वस्तुतः योगिज्ञान है, जो ऋतम्भरा प्रज्ञा[1] अथवा केवल-ज्ञान, केवल दर्शनके नामसे भिन्न भिन्न परम्पराओंमें प्रसिद्ध है। परन्तु इसके साथ ही सभी परम्पराओंमें ऐसे दर्शनके बिना उसके प्रति रखी जानेवाली दृढ़ श्रद्धाको भी दर्शन[2] कहा गया है, परन्तु अतीन्द्रिय वस्तुओंके साक्षात् दर्शनके बिना ही उसके प्रति रखी जानेवाली श्रद्धाको तो गौण, व्यावहारिक या परोक्ष—दर्शन ही कहा जा सकता है।

एक बात और भी समझ लेना आवश्यक है कि अध्यात्मविद्याका निरूपण करनेवाले जो जो दर्शनशास्त्र हैं उनमें भी अधिकांश निरूपण श्रवण, चिन्तन एवं मननकी कोटिका और कभी कभी निदिध्यासनकी कोटिका भी होता है। इस क्रमके अनुसार दर्शन शब्द मूल चाक्षुष अनुभवके लिए और पीछे अतिदेशसे चक्षुनिरपेक्ष मनोगत अतिस्पष्ट अनुभवके लिए सिद्ध हुआ। इसके पश्चात् इस अतिस्पष्ट मनोगत अनुभवकी श्रद्धाके लिए और इसी क्रमसे उसके साधक तर्क, ऊहापोह आदि तथा उनका निरूपण करनेवाले ग्रन्थोंके लिए भी प्रचारमें आया।

---

१. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्।

—योगसूत्र १. ४८-९

मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।

—तत्त्वार्थसूत्र १०.१

कुसलचित्तसम्पयुत्तं विपस्सना ञाणं पञ्ञा।

--विसुद्धिमग्ग १४,२

२. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। —तत्त्वार्थसूत्र १.२

इसीलिए ऐसे शास्त्र अध्यात्मलक्षी होने पर भी परस्पर प्रबल मतभेद वाले और एक-दूसरेकी उग्र समालोचना करते भी देखे जाते हैं। अन्तिम दर्शन के बारेमें जहाँ मतभेद न हो वहाँ भी शास्त्रोंमें दिखाई देनेवाले मतभेद, विवाद एवं समालोचनका खुलासा यही है।[1]

सामान्यतः आजतक ऐसा माना जाता था कि तत्त्वचिन्तनके प्रारम्भिक बीज ऋग्वेदके कई सूक्तोंमें[2] हैं। यह धारणा विचारकको ऐसा माननेके लिए प्रेरित करती है कि मानो तत्त्वचिन्तनका प्रारम्भ उस-उस सूक्तके द्रष्टाओंसे ही हुआ हो। परन्तु अब इस धारणामें संशोधन होने लगा है। जबसे सिन्धु-संस्कृति और द्राविड़संस्कृतिकी शोधके विषयमें चर्चा शुरू हुई और सिन्धु-संस्कृतिके धर्म एवं उपासनासम्बन्धी अवशेषोंके बारेमें विचार होने लगा तथा वैदिक आर्योंके आगमन एवं प्रसरणके पहलेके युगमें स्थानीय भारतीय लोगोंके आचार-विचारके बारेमें कुछ सबल अनुमान होने लगे, तबसे अब विचारकोंको अधिकाधिक निश्चित रूपसे ऐसा प्रतीत होने लगा है कि वेदसे पहलेके सिन्धु और द्राविड़[3] संस्कृतिके आचार-विचार विषयक प्रवाह उत्तरकालीन प्रजाओंके आचार-विचारमें कुछ अंशोंमें आ गये हैं, रूपान्तरित हुए हैं, पर उनका समूल नाश नहीं हुआ, होनेका सम्भव भी नहीं है। यह सत्य है कि सिन्धु-संस्कृतिके अवशेषोंमें जो लिपिबद्ध अंश हैं उनका असन्दिग्ध अर्थ अभी तक निकाला नहीं जा सका। इस प्राचीन द्राविड़-सिन्धु संस्कृतिके

१. दर्शन शब्दके विविध अर्थोंकी चर्चाके लिए देखो मेरा लेखसंग्रह 'दर्शन और चिन्तन' पृ. ६७ से ७८।

२. ऋग्वेद १. १६४; १०. ५, २७, ८८, १२९ आदि।

३. सौराष्ट्र-गुजरातमें अभी जो लोथलकी खुदाई हुई है, और उसमेंसे अनेक पुरातत्त्वीय अवशेष प्राप्त हुए हैं वे संशोधकोंको बहुत पुराने युगकी ओर ले जाते हैं।

कौन-कौनसे अंश किस रूपमें उत्तरकालीन साहित्यमें सुरक्षित रहे हैं यह निश्चित करनेका कार्य अभी बाक़ी है और अत्यधिक श्रमसाध्य भी है। इसके अलावा डॉ. देवदत्त भाण्डारकरने अपनी पुस्तक 'Some Aspects of Ancient Indian Culture' में वेदसाहित्यका पृथक्करण कर वेदप्राक्कालीन भारतके पूर्वप्रदेशकी धर्मसंस्कृतिकी जो शक्यता बताई है वह भी उल्लेखनीय है।

ग्रीक और भारतीय तत्त्वचिन्तनका सम्बन्ध

सामान्य रूपसे ऐसा माना जाता है कि ग्रीक और भारतीय ये तत्त्वचिन्तनकी दो धाराएँ प्राचीन हैं। विद्वान् एक लम्बे अरसेसे सोचते रहे हैं कि इन दो विचारधाराओंका पारस्परिक कुछ सम्बन्ध है या नहीं? ऐसा प्रश्न असलमें तो पाश्चात्य संशोधकोंने ही उपस्थित किया था। इसका उत्तर देनेका प्रयत्न भी सर्वप्रथम उन्होंने ही शुरू किया था। उसके बाद इसका उत्तर देनेमें भारतीय विद्वान् भी भाग लेते रहे हैं। कुछ जर्मन और दूसरे विद्वान्, अपने तुलनात्मक अध्ययनके बल पर, ऐसा मानते थे कि ग्रीक तत्त्वचिन्तनका भारतीय तत्त्वचिन्तन पर असर है, तो गार्बे[1] जैसे विद्वान् ऐसा भी मानते हैं कि भारतीय तत्त्वचिन्तनका ग्रीक तत्त्वचिन्तन पर असर है। मेक्समूलरने इस प्रश्नके विषयमें ठीक ठीक ऊहापोह किया है। उनका मन्तव्य ऐसा है कि किसी एक विचारधाराका दूसरी विचारधारा पर प्रभाव पड़ा है ऐसा माननेके कोई सुनिश्चित प्रमाण नहीं हैं। वह ऐसा कहते हैं कि ग्रीक और भारतीय विचारधाराके बीच बहुत ही साम्य है; परन्तु ऐसा साम्य मात्र एकका दूसरे पर प्रभाव सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त रूपसे समर्थ नहीं है। बहुत बार मानवजातिमें भिन्न भिन्न स्थान एवं भिन्न

1. Philosophy of Ancient India (1897) पृ ३२ से।आगे।
2. The six systems of Indian Philosophy (1903) पृ. ९८-९७।

भिन्न कालमें सहजभावसे ही विचारसाम्य पैदा होता है। इससे जबतक असन्दिग्ध प्रमाण न मिलें तबतक ग्रीक एवं भारतीय तत्वचिन्तन समानान्तर और परस्परके प्रभावके बिना ही प्रवृत्त हुए हैं ऐसा मानना चाहिए।

पूर्ववर्ती सभी संशोधनोंका विशेष ऊहापोह करके डॉ. राधाकृष्णनने[1] इस प्रश्नकी जाँच ब्योरेसे की है। उन्होंने अन्तमें अपना मन्तव्य स्थिर किया है कि ग्रीक तत्त्वचिन्तनकी बहुतसी आध्यात्मिक एवं संयमप्रधान जीवनकी बातों पर भारतीय तत्त्वचिन्तन और संयमी जीवनका सुनिश्चित रूपसे प्रभाव पड़ा है।

इतना ध्यानमें रहे कि पारस्परिक प्रभाव विषयक यह प्रश्न सिकन्दरके पूर्वके समयको लक्ष करके किया जाता है। सिकन्दरके आक्रमणसे लेकर ग्रीक और भारतीय प्रजाओंका जो सम्बन्ध अधिकाधिक बढता गया उसे लक्षमें लेने पर तो ऐसा माननेमें बाधा उपस्थित नहीं होती कि कई बातोंमें ग्रीकोंने भारतीय विचार अपनाये हैं तो दूसरी कई बातोंमें भारतीयोंने भी ग्रीक विचार अपनाये हैं।

तत्त्वचिन्तनके बारेमें विद्वानोंने इस एक मुद्देकी भी चर्चा की है कि पाश्चात्य तत्त्वचिन्तन धर्मदृष्टिसे निरपेक्ष रूपमें शुरू हुआ था, जबकि भारतीय तत्त्वचिन्तन पहलेसे ही धर्मदृष्टिके साथ संकलित रहा है। इसका कारण, कई पाश्चात्य विद्वानोंके मतके अनुसार, यह है कि योरोपमें ईसाई धर्म एशियामेंसे आया, जबकि उसका तत्त्वज्ञान ग्रीक परम्परामेंसे लिया गया। परन्तु यहाँ भारतमें फिलासोफ़ी (तत्त्वज्ञान) दर्शनके अन्तर्गत होनेसे ऐसा कोई विभाग करनेकी आवश्यकता नहीं हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय ऋषि जीवनके अविभाज्य ऐसे श्रद्धा एवं मेधा इन अंशोंपर यथायोग्य भार देते आये हैं।

1, Eastern Religion and Western Thought. Ch. IV,

भारतमें जो तत्त्वज्ञान जीवित रहा है वह धर्मसम्प्रदायके आश्रयके कारण ही। जिसका कोई धर्मसम्प्रदाय अस्तित्वमें न आया अथवा टिक न सका वह तत्त्वज्ञान नामशेष हो गया है; जैसे कि चार्वाक, आजीवक आदि। इससे उल्टा, जिस-जिस तत्त्वज्ञानने किसी-न-किसी धर्मसम्प्रदायका आश्रय लिया है वह तत्त्वज्ञान धर्मसम्प्रदायके बलाबलके अनुसार विकसित होता गया है और फैलता रहा है; जैसेकि बौद्ध, जैन, न्याय-वैशेषिक, सांख्य, पूर्वोत्तर-मीमांसा आदि।

तत्त्वचिन्तनका विकासक्रम

तत्त्वचिन्तनके मुख्य तीन विषय माने जाते हैं: जगत्, जीव और ईश्वर। इन तीन विषयोंके आसपास अनेक प्रश्न खड़े हुए हैं, और प्रत्येक प्रश्नके बारेमें बारीकसे बारीक ब्योरेवार चर्चा भी हुई है। अब-तकका भारतीय दर्शनसाहित्य देखने पर, अर्थात् समग्रभावसे तत्त्वचिन्तन अथवा दार्शनिक चिन्तन लेकर उसका पृथक्करण करने पर, उसमें दो अंश दृष्टिगोचर होते हैं: एक अंश तर्क—कल्पनामूलक चिन्तनका और दूसरा अनुभवमूलक चिन्तनका। सामान्यतः बुद्धिका कार्य नई-नई जिज्ञासाका अनुसरण करके उसका समाधान ढूँढ़नेका है। ऐसा समाधान अनेक बार तर्क—कल्पना द्वारा प्राप्त होता है, तो कभी-कभी अनुभव द्वारा भी उपलब्ध होता है। अनुभवकी अपेक्षा तर्क—कल्पनाका विस्तार सर्वदा अधिक ही रहेगा, पर जहाँ जहाँ तत्त्वचिन्तनमें अनुभव होता है वहाँ वहाँ तत्त्वचिन्तन पक्का और ठोस ही होनेका। जिस प्रकार विज्ञानमें कोई भी तर्क (हाइपोथिसिस) प्रयोगसे साबित होने पर ही वैज्ञानिक सत्य बनता है—प्रयोग बिनाकी हाइपोथिसिस मात्र कल्पना ही होती है—उसी प्रकार तत्त्वचिन्तनमें जो अंश अनुभवमूलक होता है वह अबाधित और अन्तमें सर्वमान्य बन जाता है, पर जिस तत्त्वचिन्तनको अनुभवका सहारा नहीं होता वह सिर्फ़ कल्पनाकी ही कोटिमें आता है।

विरुद्ध प्रमाण मिलने पर वह कल्पना खण्डित हो जायगी और वह अंश बाधित होगा। ऐसी वस्तुस्थिति है। भारतीय तत्त्वचिन्तनका कोई भी प्रवाह लें, तो उसमें दोनों अंश मिलेंगे, परन्तु उसमें भी कल्पनामूलक अंश अधिक मिलेगा। इसीसे कल्पनामूलक स्थलोंमें सभी दार्शनिक-प्रवाह आपसमें वादविवाद करते आये हैं और दार्शनिक साहित्यमें उन्हें विशेष स्थान भी मिला है। हमें तो यहाँ इतना ही समझनेका है कि प्रत्येक सम्प्रदाय में तत्त्वचिन्तन या दर्शनके नाम पर जो और जितना मिलता है वह सब अनुभवमूलक या अन्तिम है ऐसा मान लेनेकी भूल हम न करें।

अनुभवकी भी कक्षाएँ होती हैं। कोई अनुभव एक कक्षाका हो, पर उसे अन्तिम मानकर जब तर्क—कल्पनाके बलसे उसका समर्थन किया जाता है तब मूलमें वह अनुभव अमुक अंशमें यथार्थ होने पर भी उसे ऊपरकी या अन्तिम कक्षाका मानने पर, तथा मात्र तर्क—कल्पनाके बल पर उसे वैसा सिद्ध करने पर, बहुत बार उसकी आंशिक यथार्थता भी विचारकोंके ध्यानमेंसे हट जाती है। यही वस्तु जैन परिभाषामें नय और नयाभासके रूपमें कही गई है।[1]

---

१. एए पुण संगहओ पाडिक्कमलक्खणं दुवेण्हं पि।
तम्हा मिच्छद्दिट्ठी पत्तेयं दो वि मूलणया ॥ १३ ॥
ण य तइओ अत्थि णओ ण य सम्मत्तं ण तेसु पडिपुण्णं।
जेण दुवे एगंता विभज्जमाणा अणेगन्तो ॥ १४ ॥
तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥ २१ ॥
तह णिययवायसुविणिच्छिया वि अण्णोण्णपक्खनिरवेक्खा।
सम्मद्दंसणं सद्दं सव्वे वि णया ण पावेंति ॥ २३ ॥
णिययवयणिज्जसच्चा सव्वनया परवियालणे मोहा।
ते उण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा ॥ २८ ॥
—सन्मति प्रथम काण्ड
यहाँ सन्मतिके तृतीय काण्डकी गा. ४६-९ भी द्रष्टव्य हैं।

तत्त्वचिन्तनकी दिशा प्रगतिलक्षी रही है। वह स्थूलमेंसे सूक्ष्ममें और सूक्ष्ममेंसे सूक्ष्मतममें—इस प्रकार अन्ततः अगम्यमें विश्रान्त होती है। जैन परिभाषाका उपयोग करके कहना हो तो यों कहा जा सकता है कि तत्त्वविचार द्रव्य अर्थात् स्थूलसे शुरू होकर अन्तमें भाव अर्थात् सूक्ष्मतम पर्याय या अगम्यमें पर्यवसित होता है। उपलब्ध भारतीय दार्शनिक साहित्यका ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन उसी बातका प्रमाण प्रस्तुत करता है। दर्शनके मुख्य विषय जगत्, जीव और ईश्वर इन तीनोंको लेकर उनके विचारके बारेमें जो विकास दिखाई पड़ता है वही उक्त कथनकी पुष्टि करता है। जगत्की रचनाके विषयमें पहले भौतिक दृष्टिबिन्दु शुरू होता है। ऐसा दृष्टिबिन्दु रखनेवाले चाहे चार्वाक हों अथवा न्यायवैशेषिक या सांख्य, बौद्ध और जैन, किन्तु वे सब एक अथवा दूसरे रूपमें जगत्को भौतिकरूप ही कल्पित करके विचार करते रहे हैं। उनमें परस्पर न्यूनाधिक विचारभेद अवश्य है, फिर भी मूल वस्तुके बारेमें उन सबकी दृष्टि समान है। वह मूलवस्तु अर्थात् दृश्यमान विश्व किसी-न-किसी प्रकारके भौतिक द्रव्यसे निर्मित अथवा भौतिक द्रव्यमय है। यह हुआ जगत्के विषयमें अधिभूतवाद। परन्तु कालक्रमसे दूसरा एक अधिचैतसिक या अधि-विज्ञानवाद शुरू होता है। इस वादके अनुसार दृश्यमान अथवा अनुभूयमान जगत् कुछ ठोस भौतिक द्रव्योंसे निर्मित नहीं है, पर वह तो एकमात्र विज्ञानका स्वरूप है। जो विज्ञान आन्तरिक है उसका बाह्य रूपसे भासित आकार ही यह जगत् है। यह आकार वस्तुतः विज्ञानसे भिन्न नहीं है, और फिर भी भिन्न भासित होनेसे सांवृत या आरोपित है। इसके अनन्तर भी एक नया प्रस्थान आता है। वह प्रस्थान अर्थात् अध्यात्मवाद अथवा अधिब्रह्मवाद। इस वादके अनुसार जगत् पारमार्थिक रूपसे केवल अखण्ड सच्चिदानन्द रूप या ब्रह्मरूप है

और उसमें अनुभूयमान स्थूलता या भिन्नता मात्र मायिक—अपारमार्थिक है।

जीवके विषयमें भी ऐसा ही विचारविकास दिखाई पड़ता है। भौतिकवादी चार्वाक जैसे जीव—चैतन्यका स्वतंत्र अस्तित्व न मानकर उसे केवल भौतिक विकाररूप मानते और अनुभूयमान जीवनव्यवहार घटाते रहे। परन्तु इस चार्वाक मान्यतासे आगे जानेवाले दूसरे दार्शनिक उपस्थित हुए, जो जीव अथवा चेतनका स्वतंत्र व्यक्तित्व मानकर उसे भौतिक द्रव्यसे सर्वथा भिन्न मानते हैं। ऐसा होने पर भी, ऐसे स्वतंत्र चेतनवादी दार्शनिकोंकी विचारसरणीमें भौतिकताकी कुछ-न-कुछ छाया पाई जाती है, जैन या बौद्ध भिन्न-भिन्न नामसे चैतन्यका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करते हैं, फिर भी उनके द्वारा मान्य चेतनतत्त्वमें शरीरानुसारी परिमाणकी हानिवृद्धि और भूततत्त्वगत द्वित्व-बहुत्व संख्या जैसे भौतिक अंशोंकी वास्तविकता रही हुई है। न्याय-वैशेषिक और पचीस या छब्बीस तत्त्ववादी सांख्यने शरीरानुसारी हानिवृद्धिका यद्यपि इनकार किया, तथापि उनके सम्मत जीव, चेतन अथवा आत्मतत्त्वमें भी भौतिकताकी अमुक छाया दीखती ही है। न्याय-वैशेषिक जीवको व्यापक एवं कूटस्थनित्य तो मानते हैं, परन्तु वे वस्तुतः आत्मतत्त्वमें ऐसी कोई अभिन्न चेतना नहीं मानते जिससे कि वह आत्मतत्त्व सर्वदा संवेदनका अनुभव करता रहे। उनके मतसे मुक्तिदशामें वह आत्मतत्त्व केवल जड़ और कूटस्थनित्य आकाश जैसे भौतिक द्रव्यकी कोटिका ही बन जाता है। अलबत्ता, सांख्य जीव अर्थात् पुरुषको स्वयंसिद्ध चेतनस्वरूप मानते हैं, परन्तु उनके मतसे भी पुरुषगत बहुत्व भौतिक गुणकी एक छाया है। विज्ञानवादी जीवका स्वरूप विज्ञानसन्ततिरूप मानते हैं। उसे किसी स्थायी द्रव्यके रूपमें वे नहीं मानते, तथापि वैसी सन्ततियोंका बहुत्व स्वीकार करनेसे वे भी भौतिक गुणकी छायाके विचारसे मुक्त नहीं

हैं। जीवके स्वरूपके बारे में तत्त्वचिन्तनका यह दूसरा सोपान कहा जा सकता है। इसका अन्तिम सोपान अधिब्रह्मवाद है। इसके अनुसार एक जीव अथवा अनेक जीव किसी भौतिक तत्त्वके न तो विकार हैं और न एक या दूसरे रूपमें स्वतंत्र अस्तित्व रखनेवाले व्यक्ति ही। पर वे जीव, आत्मा, पुरुष या विज्ञानसन्ततियाँ—जो कहो सो—एकमात्र अखण्ड चेतनाका औपाधिक स्वरूप होनेसे उनमें सिर्फ़ काल्पनिक भेद है। वस्तुतः जीवोंमें न तो शरीरानुसारी हानि-वृद्धि है, न भौतक तत्त्वगत बहुत्व है और न उनमें चैतन्यशून्य जड़ता ही है। इस तरह आत्मतत्त्वके स्वरूपमें भी विचारका विकासक्रम देखा जाता है।

ईश्वरतत्त्वके विषयमें भी प्रायः यही स्थिति दिखाई पड़ती है। कभी ईश्वर एक स्वतंत्र व्यक्तिके रूपमें और सृष्टि-संहारके कर्ताके रूपमें कल्पित हुआ। ऐसा माना जाने लगा कि यदि ईश्वर कर्ता-धर्ता न हो, तो न तो सृष्टिका सर्जन ही होता और न उसका तंत्र ही नियमित चलता। वस्तुतः ईश्वर-विषयक ऐसी कल्पना अधिभौतिक कल्पना ही है, क्योंकि वैसे ईश्वरका सहस्रशीर्षा[1] आदिके रूपमें वर्णन किया गया है और आगे जा करके तो तार्किकोंने उसका परमाणुमय शरीर[2] भी स्वीकार किया है। परन्तु आहिस्ता-आहिस्ता ईश्वर एक दूसरा स्वरूप भी धारण करता है। उसके अनुसार सदातन स्वतंत्र व्यक्ति होने पर भी ईश्वर

---

१. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

ऋग्वेद १०.९०.१

२. साक्षादधिष्ठातरि साध्ये परमाण्वादीनां शरीरत्वप्रसंग इति--किमिदं शरीरत्वं यत् प्रसज्यते? यदि साक्षात्प्रयत्नवदधिष्ठेयत्वं, तदिष्यत एव।
--न्यायकुसुमाञ्जलि पंचम स्तबक का० २ की वृत्ति पृ. ४५ (चौखम्बा, १९१२)

केवल उपास्यके रूपमें है।[1] योग परम्परामें जो ईश्वरतत्त्व है वह मूलमें तो कुछ कर्ताके रूपमें कल्पित नहीं हुआ है, पर साधकोंके पुरुषार्थमें प्रेरक बने ऐसे एक शुद्ध आदर्श उपास्यके रूपमें कल्पित हुआ है और उसमें से भौतिकता चली गई है। यह हुआ ईश्वर-विषयक अधि-आदर्शवाद। पर तत्त्वचिन्तक यहीं नहीं ठहरे। उन्होंने तो उससे भी आगे क़दम बढ़ाकर कहा कि जीवकी भाँति ईश्वर भी सोपाधिक है। मूलमें पारमार्थिक तत्त्व तो एक और अखण्ड सच्चिदान्दरूप ही है, पर जिस तरह अविद्याकी उपाधिसे जीवोंका भेद प्रतीत होता है, उसी तरह मायाकी उपाधिसे ईश्वरतत्त्वका अस्तित्व भिन्न समझने का है; नहीं कि वास्तविक।

इस प्रकार देखें तो ज्ञात होता है कि दार्शनिक चिन्तक जगत्, जीव एवं ईश्वरके बारेमें उत्तरोत्तर विचारकी गहराईकी ओर ही प्रगति करते रहे हैं।

---

१. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। —योगसूत्र १. २४-५

विस्तृत चर्चाके लिए देखो—'Origin and Development of the Saṁkhya System of Thaught' by Pulinbihari Chakravarty, Calcutta, 1952, pp. 28-9, 65-9.

कार्यकारणभाव : तत्त्वज्ञानकी नींव और प्रमाणशक्तिकी मर्यादा

तत्त्वचिन्तनकी नींव है कार्यकारणभावकी विचारणा। जहाँ कार्य-कारणभावकी विचारणा पैदा ही नहीं होती, वहाँ कभी तत्त्वमीमांसाके उदयका सम्भव ही नहीं है। कार्यकारणभावकी विचारणा देश एवं कालकी मर्यादा में ही हो सकती है। जैसे-जैसे देश-विषयक अवलोकन बढ़ता और विस्तृत व स्पष्ट होता जायगा तथा काल-विषयक अनुभवका संस्कार अधिकाधिक समृद्ध एवं पुष्ट होता जायगा वैसे-वैसे कार्यकारणभावकी विचारणा अधिकाधिक विस्तृत होती जायगी। उसमें गहराई और सुनिश्चितता भी अधिकाधिक आती जायगी। कार्यकारणभावको विचारणाके विकास, विस्तार और संशोधनके साथ ही साथ तत्त्वचिन्तनका दायरा भी विस्तृत, विकसित और विशेष संशोधित होता जायगा। ऐसे विस्तार, विकास एवं संशोधनके कारण ही तत्त्वचिन्तनमें नये-नये चिन्त्य विषय दाख़िल होते रहते हैं; उसके स्वरूपचिन्तनमें भी परिवर्तन होता रहता है।

जब देश-कालकी मर्यादासे पर ऐसी भूमिकाके विषयमें तत्त्वचिन्तक विचार करना शुरू करते हैं तब उन्हें कार्यकारणभावकी कल्पना मदद नहीं कर सकती, और फिर भी ऐसी भूमिका, जिसे तत्त्वचिन्तक अगम्य, अनिर्वाच्य अथवा अव्याकृत शब्दसे सूचित करते हैं, तत्त्वचिन्तनका एक विषय मानी जाती है।

कार्यकारणभावका भूमिकाभेद

कार्य किसे कहते हैं? कारण क्या है? कारण किस किस तरहके हो सकते हैं? इत्यादि कार्यकारणभाव विषयक सुनिश्चित लक्षणशास्त्रकी रचना यद्यपि आगे जाकर होती है[1] पर इन लक्षणों और उनके विभागोंकी सूचक बातोंकी चर्चा तो वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् और आगम एवं पिटक आदि ग्रन्थोंमें काफी स्पष्ट रूपसे और बहुत बार तो ब्योरेसे हुई है।[2] इन हक़ीक़तोंका अध्ययन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कार्यकारण-भावकी विचारणा इहलोक, लोकान्तर और अलौकिक ऐसी तीन भूमि-काओंमें व्याप्त है। अतएव ऐसा कहा जा सकता है कि तत्त्वचिन्तनमें जिन विषयोंकी चर्चा होती है वे इन तीन भूमिकाओंके साथ सम्बन्ध रखते हैं।

समीप या सुदूरवर्ती देश-कालमें घटनेवाली इन्द्रियगम्य भौतिक घटनाओंका अनिवार्य पौर्वापर्य देखकर हम जिस कार्यकारणभावकी कल्पना करते हैं वह लौकिक कोटिका है; अर्थात् उस कार्यकारणभावको समझनेके

---

१. कारणाभावात् कार्याभावः। न तु कार्याभावात् कारणाभावः।

—वैशेषिकदर्शन १.२. १–२

प्रतीत्यसमुत्पादके बारेमें अनुलोम-प्रतिलोमका विचार महावग्गके **धम्मचक्क-पवत्तनसुत्त** एवं विसुद्धिमग्ग (१७. ९ पृ. ३६३.) में है।

२. असद्वा इदमग्र आसीत्। —तैत्तिरीयोपनिषद् २.७

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्। —ऐतरेयोपनिषद् १.१

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

मुण्डकोपनिषद् २.२.८

सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। —छान्दोग्योपनिषद् ६.२.१

प्रयोगपरिणत, मिश्रपरिणत और विस्रसापरिणत पुद्गल।

—स्थानांगसूत्र सूत्र १८६, गुजराती अनुवाद पृ. ५३२

लिए मुख्यतः इन्द्रियशक्तिका आधार लेकर मन प्रयत्न करता है। व्यवहारमें हम देखते हैं कि कपड़ा एक कार्य है और उसका एक निर्माता एवं उस निर्माणके अमुक साधन भी हैं। ऐसा निरीक्षण मनुष्यमें विश्वरचनाके कारणकी जिज्ञासा उत्पन्न करता है और इससे वह विश्वमें बननेवाली नई-नई घटनाओंके कारणके रूपमें किसी-न-किसी दैवी सत्त्व तथा ऐसे दूसरे सूक्ष्म उपादानोंकी कल्पना करता है। यह हुआ इहलौकिक कार्यकारणभाव।

परन्तु मनुष्य इसी कार्यकारणभावके संस्कारोंसे प्रेरित होकर जब अधिक गहरा चिन्तन शुरू करता है तब उसे अनेक प्रश्न होते हैं। उसे ऐसा लगता है कि इस जीवन में जिन सामाजिक धर्माचारों अथवा नैतिक आचारोंका अनुसरण किया जाता है ये क्या सर्वथा निरर्थक हैं? उनका परिणाम केवल वर्तमान जीवनमें ही सम्भव है या फिर उसके बाद भी? इसी प्रकार प्राणिजगत्‌में सुख-दुःखका जो तारतम्य या संस्कारभेद दिखाई पड़ता है वह क्या इहलौकिक कार्यकारणभावके ही अधीन है या फिर उसका दूसरा भी कोई नियामक कारण है?— इन और इनके जैसे अन्य प्रश्नोंमेंसे पुनर्जन्म अथवा लोकान्तरवादके विषयमें विचार होने लगा। इस वादके अनुसार, जिस तरह इहलोकमें घटनेवालीं पूर्वापर घटनाएँ कार्यकारणभावके नियमके अधीन हैं, उसी तरह प्राणिजगत्‌का वैषम्य भी पूर्वजीवनके संस्कार के अधीन होनेसे लोकान्तरस्पर्शी कार्यकारणभावकी कोटिमें आता है।

कार्यकारणभावका वर्तुल इससे भी आगे विकसित हुआ है, जिसका कि अलौकिक शब्दसे निर्देश किया जा सकता है। इसकी सीमामें भौतिक घटनाओंका स्पष्टीकरण विवक्षित नहीं है और पुनर्जन्म या लोकान्तरवादकी विशेष चर्चा भी नहीं आती। इसमें तो एक

सर्वथा भिन्न ही विचारणा होती है। वह विचारणा अर्थात् ऐसी स्थितिका किस तरह और किस कारणसे निर्माण किया जाय कि जिसमें इहलोक और परलोकका भेद ही न हो। इस अलौकिक भूमिको छूनेवाला कार्यकारणभाव वस्तुतः आध्यात्मिक शुद्धिका कार्यकारणभाव है।

इस प्रकार कार्यकारणभावके विचारविकासके तीन सोपानोंने तत्त्व-चिन्तनको भी त्रैभूमिक बनाया है। उसकी पहली भूमिकामें इहलोकस्पर्शी अर्थ-कामप्रधान चर्चा मुख्य रूपसे आती है। दूसरीमें अर्थ एवं कामके अतिरिक्त प्रवर्तकधर्मप्रधान परलोकस्पर्शी और तीसरीमें निवर्तकधर्मप्रधान मोक्ष या अध्यात्मलक्षी चर्चा मुख्य रूपसे आती है। इस तरह तत्त्व-चिन्तनमें पुनर्जन्मवाद और मोक्षवाद दोनों प्रविष्ट होने पर उसके स्वरूपने नया ही आकार धारण किया है।

इन सोपानों और भूमिकाओंके उदाहरण दर्शनकालके पूर्ववर्ती साहित्यमें सर्वत्र बिखरे पड़े हैं[1]।

---

१. ऋग्वेदके आर्य कैसे आनन्दी और ऐहिक सुखपरायण थे इसका निर्देश डॉ॰ विन्तर्नित्सने अपने 'History of Indian Literature' नामक ग्रन्थमें इन्द्र, अग्नि आदि सूक्तोंके आधार पर किया है। देखो पृ॰, ६८, ८०, ८६–७

ब्राह्मण ग्रन्थोंमें: (१) इहलौकिक सोपान—'पुत्रकामो यजेत', 'वृष्टिकामो यजेत,' 'राज्यकामो यजेत', इत्यादि; (२) पारलौकिक सोपान–'स्वर्गकामो यजेत' तथा दक्षिणायनमें उपकारक श्राद्ध आदि कर्म; (३) मोक्षसम्बन्धी सोपान–उपनिषदोंमें: 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इत्यादि।

प्रश्नोपनिषद्के पाँचवें प्रश्नमें ॐकारके अभिध्यानका फल पूछा गया है। पिप्पलादने उसका उत्तर देते हुए कहा है कि एक-एक मात्राके अभिध्यानसे क्रमशः मनुष्यलोक, अन्तरिक्ष और ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। इस तरह इस मंत्रमें तीनों सोपान एक साथ सूचित किये गये हैं।

मगधराज अजातशत्रुने बुद्धसे जब श्रमणत्वके प्रत्यक्ष-फलके बारेमें पूछा, तब बुद्धने जिन प्रत्यक्ष-फलोंका निर्देश किया उनमें श्रमणत्वके अनेकविध प्रत्यक्ष

कार्यकारणभाव सर्वतंत्रसिद्धान्त होनेसे उसमें किसी दार्शनिकको विप्रतिपत्ति नहीं है। बाह्य-आभ्यन्तर विश्वका कारण क्या है? उसका स्वरूप क्या है? पुनर्जन्म क्या है? उसका कारण और स्वरूप क्या है? मोक्षके उपाय कौनसे हैं? उनका स्वरूप क्या है? इत्यादि व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक विषयोंसे सम्बद्ध प्रश्नोंके उत्तर देनेका प्रयत्न प्रत्येक दार्शनिकने किया है। यों तो उत्तर देनेमें प्रत्येक दार्शनिक कार्यकारणभावके सिद्धान्तका समान रूपसे उपयोग करता है, परन्तु उनमेंसे प्रत्येकके मन्तव्य अथवा निश्चय भिन्न-भिन्न होते हैं। ऐसा क्यों होता है, इसका स्पष्टीकरण करना अनुपयुक्त न होगा।

सामान्य और विशेषकी उपपत्ति

ज्ञान अथवा चेतनाव्यापारका स्वरूप है सामान्य एवं विशेष दोनोंका अवगाहन या आकलन करना। ऐसा कोई ज्ञान सम्भव नहीं है जिसमें किसी-न-किसी प्रकारका सामान्य एवं विशेष भासित न होता हो। वस्तुतः ऐसे भासके कारण ही प्राणिमात्रका जीवन निभता है। पशु-पक्षी जैसे निम्न वर्गके प्राणियोंको भी अपने अपने वर्ग या गिरोहका सामान्य ज्ञान होता है और उसके सहारे वे उष्मा और आश्वासन पाते हैं। उन्हें अपने आहार, आश्रय, रक्षणस्थान तथा सन्ततिके बारेमें विशेष ज्ञान भी होता है और जीवन जीते हैं। मानवबुद्धिकी कक्षा इससे बहुत ऊँची है। वह सिर्फ़ आहार, भय और कामसंज्ञासे प्रेरित नहीं होती, परन्तु उसकी जिज्ञासा और विकासकी शक्यता इतनी अधिक है कि वह चाहे जितनी परिमित हो, फिर भी तीनों कालों और समीप-असमीप सब देशोंमें

फल आते हैं। उनमें कोई ऐहिक, तो कोई पारलौकिक है। देखो दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त।

जैन परम्परामें भी स्तोत्र आदि द्वारा ऐहिक और पारलौकिक फलकी प्राप्ति होती है ऐसा कहा गया है।

अवगाहन करना चाहती है। यही मंथन दार्शनिकको बुद्धिमें अनुभूयमान सामान्य और विशेष उभय आकारका स्पष्टीकरण खोजनेके लिए प्रेरित करता है।

ज्ञानमें अनुभूयमान सामान्य और विशेष दोनों आकार ज्ञानके द्वारा ग्राह्य होनेवाले विषयके वैसे स्वरूप पर ही अवलम्बित हैं—ऐसा सामान्य निश्चय तो प्रत्येक दार्शनिकने किया; परन्तु अनुभवमें आनेवाले दैशिक और कालिक व्यक्त कार्यप्रपंचका अन्तिम कारण कैसा होगा, जिसकी वजहसे उस व्यक्त कार्यप्रपंचमें सामान्य और विशेष उभयरूपताका सम्भव हो सके? इस प्रश्नका उत्तर पानेके लिए दार्शनिक प्रवृत्त तो हुए, पर प्रत्येककी परम्परागत, अभिनिवेशगत और रुचिवैचित्र्यगत विशेषताने दार्शनिक प्रस्थानभेद पैदा किया। यह किस तरह, इस पर हम अब संक्षेपमें विचार करें।

कपिल जैसे दार्शनिकने व्यक्त कार्यप्रपंचकी पारस्परिक विशेषता और उसमें अनुभूयमान साम्य क्या है इसका एक तरहसे खुलासा किया है, तो इतर दार्शनिकोंने उससे सर्वथा भिन्न प्रकारका खुलासा किया है। कपिल सामान्यका अर्थ साम्य या सादृश्य करते हैं और कहते हैं कि स्थूल-सूक्ष्म सभी कार्य परस्पर व्यावृत्त और भिन्न होने पर भी उनमें एक तरहका सादृश्य है। सादृश्य कहाँसे और किस तरह आया, इसके स्पष्टीकरणके लिए उन्होंने एक ऐसा प्रकृति-तत्त्व माना, जो समग्र विश्वमें फैला हुआ है और सनातन भी है। इस तत्त्वमें उन्होंने परिमित कार्य रूपमें परिणत होनेकी और कालक्रममें प्रयोजनानुसारी विकारोंके आविर्भाव-तिरोभावकी शक्ति स्वीकार की। इससे मूल कारणके एक होने पर भी वह शक्ति दैशिक और कालिक विशेषतावाले अनेकविध कार्य पैदा कर सकती है। इन सब कार्योंमें वह मूल कारण ओतप्रोत रहता है। वह

मूल कारण अपने घटक मूल अंशों या गुणोंको तारतम्यसे इस तरह विकसित करता, फैलाता या फुलाता है कि वह अपने मूल स्वरूपमें क़ायम रहने पर भी अपनेमेंसे आविर्भूत होनेवाले विशेषोंको अपना द्रव्य अर्पित करता है, और फिर भी उस मूल कारणमें कमी नहीं आती। कपिलकी यह कल्पना परिणामिनित्य कारणकी स्थापना करती है, जिससे समग्र व्यक्त प्रपंचमें अव्यक्त मूल कारणके द्रव्यका अस्तित्व बना रहता है। यही अस्तित्व साम्यभावका नियामक बनता है। इस तरह कपिलके स्पष्टीकरणके अनुसार ऐसा फलित हुआ कि दैशिक और कालिक विशेष वास्तविक हैं और उनमें अनुभूयमान साम्य भी वास्तविक है। इस मान्यताका अनुसरण करनेवाले दूसरे भी दार्शनिक हैं, जैसेकी रामानुज और वल्लभ आदि। ये दार्शनिक भी अपने द्वारा कल्पित मूल अंतिम तत्त्वके परिणाममेंसे सामान्य और विशेष दोनोंकी वास्तविकताका खुलासा करते हैं।

जैन दृष्टि कार्यप्रपंचके कारणके रूपमें मूल एक कारण न मानकर, न्याय-वैशेषिककी भाँति, अनन्तानन्त स्वतःसिद्ध मूल द्रव्य मानती है, पर वह परिणामिनित्यतावादी होनेसे स्कन्ध आदि कार्योंमें कारण-द्रव्यका अस्तित्व वास्तविक मानकर सामान्य-विशेष दोनोंकी वास्तविकताका खुलासा करती है।

परन्तु शंकर जैसे दार्शनिक सामान्य-विशेष दोनोंके भावका स्पष्टीकरण दूसरी तरहसे ही करते हैं। वह कहते हैं कि सामान्यका अर्थ सादृश्य नहीं है, क्योंकि सादृश्य तो वास्तविक भेदके बिना सम्भव ही नहीं है; अतः सामान्यका अर्थ एकता या अभिन्नता है। इस विचारके अनुसार ऐसा माना जाता है कि मूलमें एक अखण्ड और अभिन्न सत् तत्त्व ही है, जिसमें कोई घटक अंश अथवा गुण नहीं हैं। वह सत्

तत्त्व अखण्ड और अभिन्न होनेसे कूटस्थनित्य है। उसमें किसी प्रकारके परिणाम या विकारका सम्भव ही नहीं है। यह सत् तत्त्व ही पारमार्थिक है। भानमें जो दैशिक एवं कालिक प्रपंचके विशेष दिखाई पड़ते हैं, उनमें कोई द्रव्यका अंश है ही नहीं, वे विशेष केवल अज्ञान या अविद्या-कल्पित हैं। उनमें जो सत्त्व भासित होता है वह उनका अपना नहीं है; परन्तु उस अखण्ड एवं अभिन्न ऐसे अधिष्ठानभूत मूल तत्त्वका है। अतएव कार्यप्रपंच वास्तविक अस्तित्वसे रहित होने पर भी अधिष्ठानके अस्तित्वसे सद्रूप प्रतीत होता है। इस विचारसरणीके अनुसार ऐसा फलित होता है कि कार्यप्रपंचके विशेष वास्तविक नहीं है, मात्र आविद्यक हैं—विवर्त हैं; और वास्तविक या पारमार्थिक तो मूल अधिष्ठानका अस्तित्व ही है। इस कूटस्थनित्य अद्वैतवादको केवल शंकराचार्य ही मानते हैं।

ज्ञानगत विशेष आकारका खुलासा भी किसी एक ही रीतिसे नहीं हुआ है। जिस तरह सामान्यके सादृश्य और एकत्व इन दो अर्थोंमेंसे क्रमशः परिणामिनित्यता और कूटस्थनित्यताके वाद फलित हुए[1], उसी तरह विशेषके बारेमें भी हुआ है। बुद्ध जैसे द्रष्टाने कहा है कि अनुभवमें आनेवाले कार्यप्रपंचके आधारके रूपमें न तो मूलमें कोई परिणामिनित्य द्रव्य है और न कोई कूटस्थनित्य द्रव्य ही। ऐसे मूल

---

१. न्याय-वैशेषिक न तो परिणामवादी हैं और न अद्वैत-कूटस्थनित्यतावादी ही। वे अनेक मूलभूत परमाणु व आकाश आदि द्रव्योंको कूटस्थनित्य और परस्पर अत्यन्त व्यावृत्त मानते हैं। ऐसा होने पर भी वे सादृश्य मानते हैं। इसकी उपपत्ति वे इस तरहसे करते हैं कि, कूटस्थनित्य और परस्पर अत्यन्त व्यावृत्त तत्त्वोंमें भी एक अनुगत अखण्ड सामान्य होता है, जो व्यावृत्त व्यक्तिओंमें सादृश्य का नियामक बनता है; जैसे कि पार्थिव परमाणुओंमें पृथ्वीत्व, नवों द्रव्योंमें द्रव्यत्व तथा द्रव्य-गुण-कर्ममें सत्ता। जैन, बौद्ध आदि दर्शनोंमें ऐसा सादृश्यनियामक कोई पृथक् नित्य तत्त्व नहीं है।

कारणका सर्वथा अस्वीकार करके ही बौद्ध विद्वान् बुद्धिके सामान्य और विशेष दोनों आकारोंका खुलासा करते हैं। उनके खुलासेके अनुसार देश और कालके क्रममें नये-नये कार्यविशेष पूर्व-पूर्वके विशेषकी वजहसे अस्तित्वमें आते हैं और विनष्ट होते हैं। सन्ततिबद्ध दिखाई पड़नेवाले उन विशेषोंमें वस्तुतः सादृश्य या एकत्व जैसा कोई तत्त्व है ही नहीं। समान रूपसे दृष्टिगोचर होनेवाली विशेषोंकी श्रेणियोंमें भी वस्तुतः प्रत्येक विशेष एक-दूसरेसे अत्यन्त व्यावृत्त हैं। उनमें जो समानता या अभिन्नताका भान होता है वह उन विशेषों के पारमार्थिक स्वरूपके अधूरे भानके कारण। जितने अंशमें उन विशेषोंके स्वरूपका यथावत् आकलन करनेकी अशक्ति होगी, उतने अंशोंमें उनमें सादृश्य अथवा एकता भासित होगी। इस तरह यह वाद वास्तविक विशेषवाद हुआ[1]। जिस प्रकार शंकर अखण्ड और अभिन्न ऐसे एक तत्त्वको ही पारमार्थिक मानकर विशेष भानको अपारमार्थिक या व्यावहारिक कहते हैं उसी प्रकार, उससे एकदम सामनेके छोर पर जाकर, बौद्ध विद्वान् देश-कालकृत विशेषोंको पारमार्थिक मानकर उनमें प्रतीत होनेवाले सादृश्य या एकत्वको अपारमार्थिक या व्यावहारिक कहते हैं।

बुद्धिके उपर्युक्त दो आकारोंकी उपपत्ति दूसरी तरहसे ही करनेवाले दार्शनिक भी हुए हैं। कणाद जैसे दार्शनिक ऐसा मानते हैं कि

---

१. देखो हेतुबिन्दु टीका पृ० ८६, तथा

यथा धात्र्यभयादीनां नानारोगनिवर्तने।
प्रत्येकं सह वा शक्तिर्नानात्वेऽप्युपलक्ष्यते ॥७२३॥
न तेषु विद्यते किञ्चित्सामान्यं तत्र शक्तिमत्।
च्चिरक्षिप्रादिभेदेन रोगशान्त्युपलम्भतः ॥७२४॥
एवमत्यन्तभेदेऽपि केचिन्नियतशक्तितः।
तुल्यप्रत्यवमर्शादेर्हेतुत्वं यान्ति नाऽपरे ॥७२६॥

—तत्वसंग्रह

समग्र कार्यप्रपंचके मूल कारणके रूपमें कोई **एक** परिणामिनित्य या कोई **एक** कूटस्थनित्य तत्त्व नहीं है, किन्तु उसके मूल कारणके रूपमें मूलमें अनन्त कूटस्थ द्रव्य हैं। वे अनन्त मूल द्रव्य परमाणुरूप हों या विभुरूप, पर वे सब एक-दूसरेसे अत्यन्त व्यावृत्त होनेके कारण परस्पर भिन्न हैं। मूल द्रव्यगत यह भेद वास्तविक है, और फिर भी उन द्रव्योंमें समानताका नियामक एक सामान्य तत्त्व या जाति भी है। इस तरह कणादने सामान्य और विशेष इन दो तत्त्वोंको सर्वथा वास्तविक और स्वतंत्र मानकर सामान्य-विशेष उभयरूप बुद्धिका स्पष्टीकरण किया। उन्होंने मूल कूटस्थनित्य परमाणुमेंसे उत्पन्न होनेवाले कार्य द्रव्योंको भी कारणसे भिन्न और फिर भी वास्तविक माना। उनके गुण-कर्मोंको भी उन्होंने भिन्न और वास्तविक माना। इस द्रव्य-गुण-कर्मके प्रपंचमें उन्होंने, कारण भेदकी अथवा कार्यभेदकी वजहसे, विशेष वास्तविक माने और उनमें अनेकविध सामान्योंको भी वास्तविक तत्त्व-रूपमें स्वीकार किया। इस तरह मूल कारण द्रव्योंको शंकरकी भाँति कूटस्थनित्य मानने पर भी सामान्य और विशेष ऐसे दो वास्तविक तत्त्वोंके स्वीकार द्वारा उन्होंने बुद्धिगत उभय आकारका समर्थन किया।

इस प्रकार हमने देखा कि प्रत्येक दार्शनिक कार्य-कारण-भावको मान करके ही सामान्य-विशेष उभयाकारवाली बुद्धिका उपपादन करनेके लिए प्रवृत्त हुआ, और फिर भी दृष्टिभेदसे प्रत्येकके मन्तव्य सर्वथा भिन्न हुए।

सत्कार्यवाद और असत्कार्यवादका विवेचन

जो मूल कारणको परिणामिनित्य मानते हैं वे कार्यमात्रमें मूल कारणके अंशोंका वास्तविक अस्तित्व अर्थात् उनकी पूर्ति स्वीकार करते हैं, और इसीलिए वे सत्कार्यवादी कहलाते हैं। कार्योंमें कारणका

वास्तविक अस्तित्व—यह एक अर्थ, और मूल कारणोंमें कार्योंका शक्तिरूपसे अस्तित्व—यह इसका दूसरा अर्थ। शंकर जैसे अद्वैतवादी भी सत्कार्यवादी हैं, पर कुछ भिन्न अर्थमें। वह अर्थ यानी पारमार्थिक सत्-अधिष्ठानमें कार्यप्रपंचका भान। बौद्ध केवल विशेषवादी हैं। उनके मतमें कोई मूल कारण त्रिकालवर्ती है ही नहीं; अतएव एक विशेषमेंसे दूसरा विशेष उत्पन्न होता है। परन्तु इस उत्पन्न होनेवाले विशेषका प्राक्तन विशेषमें अस्तित्व नहीं होता, इसलिए यह विचार असत्कार्यवादमें आता है। न्याय-वैशेषिक जैसे भी असत्कार्यवादी हैं। यद्यपि वे मूल द्रव्यको सनातन मानते हैं और कार्य-द्रव्य उसीमें उत्पन्न होते हैं, फिर भी कार्यरूप द्रव्य या गुण-कर्म, सामग्रीके बलसे, सर्वथा नये उत्पन्न होनेके कारण वे असत्कार्यवादकी कोटिमें आते हैं[1]।

---

१. सत्कार्यवाद और असत्कार्यवादकी चर्चाने दार्शनिक परम्पराओंमें बहुत महत्त्वका स्थान लिया है और वह अनेक शताब्दियोंसे चलती भी रही है। ईश्वरकृष्णने (सां० का० ९) सत्कार्यवादकी स्थापना की है और असत्कार्यवादका निषेध किया है। योगसूत्रकार पतंजलि और उसके भाष्यकार भी सत्कार्यवादको मानते हैं। उक्त कारिकाका विवरण करते समय श्री पुलिनबिहारीने 'Origin and Development of Sāṃkhya System of Thought' में पृ० १९६ से इसके ऊपर ठीक-ठीक चर्चा की है और योगभाष्यकारके विचार भी स्पष्ट किये हैं।

परन्तु उन्होंने पृ० २०० के बाद टिप्पणमें श्री गोपीनाथ कविराजके लेखके आधार पर जो चर्चा की है वह कार्यकारणभावके अभ्यासीके लिए विशेष महत्त्वकी है। कविराजजीने 'The Problem of Causality' नामक लेख (सरस्वतीभवन स्टडीज़ भाग ४, पृ० १२५) में कार्यकारणभाव की ब्योरेसे चर्चा की है और सत्कार्यवादके सामने उपस्थित होनेवाले प्रश्नोंके बारेमें भी ऊहापोह किया है। कार्य यदि कारणमें लीन होता हो और नष्ट न होता हो तो कारण जब पुनः कार्य पैदा करे तब क्या वहीका वही कार्य पुनः दृश्यमान होता है अथवा उसके जैसा दूसरा ही दृश्यमान होता है?—इस प्रश्नका उत्तर चिन्तकोंने दो तरहसे दिया है। भर्तृहरि और योग भाष्यकार ऐसा

कार्यकारणभावके सिद्धान्त द्वारा सामान्य-विशेष उभयाकार प्रतीतिका उपपादन करनेके लिए प्रवृत्त दार्शनिक, अपनी-अपनी दृष्टिके अनुसार, अन्ततः जिस और जैसे मूल कारणके स्वरूपके बारेमें निश्चय कर सके, उस और वैसे कारणका सूक्ष्म और स्थूल कार्यरूप विश्वप्रपंचके साथ सम्बन्ध घटानेके प्रयत्नमेंसे वे आरम्भवाद, परिणामवाद, प्रतीत्यसमुत्पादवाद और विवर्त्तवाद तक पहुँचे।

आरम्भवाद आदि चार वादोंके लक्षण[1]

आरम्भवाद—(१) परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त मूल कारणोंका स्वीकार, (२) कार्य और कारणका आत्यन्तिक भेद, (३) कारण नित्य हो या अनित्य, पर कार्योत्पत्तिमें उसका अपरिणामीके रूपमें रहना, (४) अपूर्व अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व असत् ऐसे कार्यकी उत्पत्ति अथवा अल्पकालीन सत्ता।

परिणामवाद—(१) एक या अनेक मूल कारणोंका स्वीकार, (२) कार्य एवं कारणका वास्तविक अभेद, (३) नित्य कारणका भी परिणामी बन करके ही रहना तथा प्रवृत्त होना, (४) कार्यमात्रका अपने अपने कारणमें और सब कार्योंका मूल कारणमें त्रैकालिक अस्तित्व अर्थात् अपूर्व वस्तुकी उत्पत्तिका सर्वथा इनकार।

मानते हैं कि प्रकृति जब पुनः नया सर्ग उत्पन्न करती है तब नया सर्ग प्रथमके जैसा ही होता है, नहीं कि वहीका वही। और पंचाधिकरण एवं पंचपादिकाविवरणका मत ऐसा है कि पुन: जो सर्ग होता है वह वहीका वही होता है। इस विषयमें कविराजजीने विशेष ऊहापोह किया हैं, अत: वह मूल लेख खास द्रष्टव्य है।

बौद्धसम्मत कार्यकारणभावको स्पष्ट करनेके लिए चेरबात्स्कीने जो लम्बी चर्चा की है उसके लिए देखो 'Buddhist Logic' Vol. I, pp 119 से आगे।

१. इसके विस्तारके लिए देखो 'प्रमाणमीमांसा' की पृ० ६ से ११ या 'दर्शन और चिन्तन' पृ० ३५५-६१।

प्रतीत्यसमुत्पादवाद—(१) कारण और कार्यका आत्यन्तिक भेद, (२) कोई भी नित्य या परिणामी कारणका सर्वथा अस्वीकार, (३) पहले ही से असत् ऐसे कार्यमात्रका उत्पाद ।

विवर्तवाद—(१) कोई एक पारमार्थिक सत्यका स्वीकार जो न तो उत्पादक है और न परिणामी ही, (२) स्थूल या सूक्ष्म भासमान जगत्की उत्पत्तिका तथा उसे मूल कारणका परिणाम माननेका सर्वथा निषेध, (३) स्थूल जगत्का अवास्तविक या काल्पनिक अस्तित्व अर्थात् मायिक भासमानता ।

इतने संक्षिप्त विवेचन परसे ज्ञात हो सकेगा कि कार्यकारणका सिद्धान्त सर्वसम्मत होने पर भी, दृष्टिभेदके कारण उसका उपयोग भिन्न भिन्न रीतिसे होनेकी वजहसे, दार्शनिक प्रस्थानभेद किस प्रकार अस्तित्वमें आये ।

प्रमाणशक्तिकी विचारणा

'मानाधीना मेयव्यवस्था' अथवा 'तो प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' (सां० का० ४)—यह सिद्धान्त सभी भारतीय दार्शनिकोंने स्वीकार किया है; अतएव यह सर्वतंत्रसिद्धान्त है। प्रत्येक दार्शनिक तत्त्व या प्रमेय विषयक अपना दर्शन अथवा मन्तव्य प्रमाणके बल पर ही प्रस्थापित करता है। इस तरह प्रमाणशक्तिका आश्रय लेने पर भी तात्त्विक मन्तव्यके बारेमें दार्शनिकोंमें अनेक बार मतभेद भी देखा जाता है। इसके परिणामस्वरूप अनेक दार्शनिक प्रस्थान अस्तित्वमें आये हैं। ऐसा होनेका मुख्य कारण है प्रमाणशक्तिका तारतम्य। कोई एक दार्शनिक जब अपने मन्तव्यका निरूपण करता है तब अमुक प्रकारकी ही प्रमाणशक्तिको अन्तिम मानकर उसके आधार पर वह अपना मन्तव्य स्थापित करता है, तो दूसरा दार्शनिक उससे अधिक विकसित प्रमाण-

शक्तिका आधार लेकर प्रवृत्त होता है। इस तरह प्रमेय या तत्त्वके स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतम और अगम्य स्वरूपोंके बारेमें दर्शनोंमें जो चिन्तन हुआ है वह प्रमाणशक्तिके उत्तरोत्तर बढ़नेवाले तारतम्यके बल पर ही हुआ है।

भौतिकवादी चार्वाकसे लेकर चेतनवादी और उनमें भी अद्वैतवादी दर्शनोंकी मान्यताके मूलमें कौन-कौनसी प्रमाणशक्ति कार्य करती है, इसके बारेमें यहाँ अब विचार करना चाहिए।

भौतिकवादी चार्वाक इन्द्रियशक्तिको ही अन्तिम मानते हैं। वे कहते हैं कि जो तत्त्व इन्द्रियगम्य हो वह वास्तविक है। इन्द्रियगम्य न हो सके ऐसे तत्त्वोंके बारेमें तो सिर्फ़ कल्पनाएँ ही की जाती हैं। परन्तु ऐसी कल्पनाओंकी यथार्थताकी कसौटी क्या? इसीलिए वे इन्द्रियशक्ति के ऊपर मुख्य आधार रखकर इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रमाण मानते हैं और कहते हैं कि एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। वे अनुमान प्रमाण मानते हैं सही, पर उसकी भी मर्यादा है। वे कहते हैं कि इन्द्रियगम्य न हो ऐसे विषयका अनुमान भी प्रमाणकी कोटिमें तभी आ सकता है, जब उस अनुमित विषयमें इन्द्रियगम्य होनेकी शक्यता हो। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्ततः अनुमानके प्रामाण्यका आधार भी प्रत्यक्ष-शक्तिके ऊपर है। इसीलिए अमुक अंशमें अनुमान मानने पर भी चार्वाक प्रत्यक्षवादी ही कहलाते हैं[1]। यह तो स्पष्ट ही है कि इन्द्रियप्रत्यक्ष-प्रमाणकी प्रवृत्ति स्थूल भौतिक विषयोंसे आगे शक्य नहीं है। अतः चार्वाकोंका प्रस्थान स्थूल भौतिक जगत् तक ही है।

---

१. प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति वचनं तत् तान्त्रिकलक्षणालक्षितलोकसंव्यवहारिप्रत्यक्षापेक्षया। अत एव लक्षणलक्षितप्रत्यक्षपूर्वकानुमानस्य 'अनुमानमप्रमाणम्'—इत्यादिग्रन्थसन्दर्भेणाप्रामाण्यप्रतिपादनं विधीयते। न पुनर्गोपालाद्यङ्गलोकव्यवहाररचनाचतुरस्य धूमदर्शनमात्राविर्भूतानलप्रतिपत्तिरूपस्य—इत्यादि। —सन्मतितर्कटीका, भा० १, पृ० ७३; तत्त्वसंग्रह का० १४८२ की उत्थानिका—'पुरन्दरस्तु आह', इत्यादि।

परन्तु दूसरे दार्शनिक इससे आगे बढ़कर विचार करते हैं। वे कहते हैं कि इन्द्रियोंकी जितनी शक्ति है उसकी अपेक्षा मनकी शक्ति अधिक है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विशिष्ट विषयको ग्रहण करती है, तो मन उन सब इन्द्रियग्राह्य विषयोंका आकलन कर सकता है। इसलिए ऐसा मानना ठीक नहीं है कि मन केवल इन्द्रियग्राह्य वर्तमान-काल और समीपवर्ती देशका ही विचार कर सकता है। जैसे सूक्ष्मदर्शक आदि बाह्य उपकरणोंकी सहायतासे इन्द्रिय अपनी सामान्य शक्तिकी अपेक्षा अधिक दूरका देख-सुन सकती है, वैसे ही योग्य संस्कारसे मन भी अधिक अतीत और अनागतके विषयमें ख्याल बाँध सकता है। अलबत्ता, मन जब वर्तमानके अतिरिक्त अतीत और अनागतका विचार करता है तब उसे उस विचारका आधार तो वर्तमानकालीन विषयोंकी व्याप्तिके ऊपरसे ही मिलता है। पुनः पुनः अवलोकन और उस पर किये जानेवाले तर्कके प्रयोगसे मन त्रैकालिक व्याप्तिका भी अबाधित निश्चय कर सकता है। ऐसी विशिष्ट प्रकारकी मनःशक्ति माननेवाले दार्शनिकोंने अनुमानको भी एक स्वतंत्र प्रमाण माना। स्वतंत्र इस अर्थमें कि जहाँ इन्द्रियप्रत्यक्षका संवाद न हो वहाँ भी अनुमान प्रवृत्त हो कर तत्त्वनिर्णय कर सकता है। चार्वाकको छोड़कर सभी दार्शनिक अनुमानका स्वतंत्र प्रामाण्य माननेवाले हैं। वे अनुमान-प्रमाण द्वारा स्थूल भौतिक जगत्से आगे बढ़कर सूक्ष्म भौतिक तत्त्वकी स्थापना करते हैं। ये दार्शनिक अपने अनुमान-प्रयोगमें मुख्य रूपसे कार्यकारणका और सादृश्यका सिद्धान्त स्वीकार करते हैं। जैसा कार्य वैसा कारण, और कार्य हो तो उसका कारण होना ही चाहिए—इस व्याप्तिके बल पर वे सूक्ष्म भौतिक तत्त्वकी स्थापना करते हैं। अलबत्ता, व्याप्तिका सिद्धान्त समान होने पर भी प्रत्येक अनुमान-प्रमाणवादी एक ही निश्चय पर नहीं आया। कोई इसी व्याप्तिके बल पर

स्थूल भौतिक जगत्के मूल कारणके रूपमें एक ही तत्त्वके निश्चय पर आया है, तो दूसरे वैसे मूल कारणके रूपमें अनेक तत्त्वोंके निश्चय पर भी आये हैं। परन्तु दोनोंमें इतना साम्य तो है ही कि वे इन्द्रियगम्य न हो ऐसे अव्यक्त अथवा परमाणुतत्त्वके निश्चय तक पहुँचे हैं।

अनुमान-प्रमाणकी विशेष शक्तिकी मान्यता इससे भी आगे बढ़ी है। अनेक दार्शनिकोंके मनमें एक प्रश्न उपस्थित हुआ कि जगत्में क्या एकमात्र स्थूल या सूक्ष्म भौतिक तत्त्व ही है या उससे परे भी कुछ है? इस प्रश्नका जवाब उन्हें अनुमान-प्रमाणसे मिला हो ऐसा प्रतीत होता है। वे सुख-दुःख आदिके अनुभवका तथा जीवनगत अन्य विशेषताओंका स्पष्टीकरण जब भौतिक तत्त्वके आधार पर न कर सके, तब उन्होंने अभौतिक चेतनतत्त्व स्वीकार किया हो ऐसा लगता है। इस तरह अनुमान-प्रमाणकी शक्तिके विस्तारमेंसे भौतिक और चेतन ऐसे दो तत्त्व तो स्थापित हुए, पर इसके साथ ही एक नया प्रश्न भी उपस्थित हुआ।

वह प्रश्न यह था कि अनुमानसे सूक्ष्म भौतिक तत्त्व या चेतनतत्त्व यदि सिद्ध किया भी जाय, तो भी क्या ऐसा कोई मार्ग नहीं है कि जिससे ऐसे सूक्ष्म अतीन्द्रिय तत्त्वोंका प्रत्यक्ष हो सके? * इसका उत्तर सरल नहीं था, फिर भी कई विरल पुरुष इसके पीछे पड़े। इसमेंसे उन्हें योगमार्ग प्राप्त हुआ। उन्होंने अनुभव किया कि जब मन मुख्य रूपसे इन्द्रियलक्षी अर्थात् बहिर्गामी होता है तब उसकी अमुक ही शक्तिका विकास होता है, पर जब वह अन्तर्मुख होकर विशेष एकाग्र होता है तब उसकी शक्तिका दूसरा प्रकार खुलता है। उन्होंने अनुभवसे यह भी देखा कि जब मनमें पड़ी हुई वासनाओंके स्तर दूर होते हैं तब उसकी शक्ति और अधिक खिलती है। ऐसे प्रयोगवीरोंने

योगानुभवमेंसे एक नये प्रमाणकी शोध की। वह प्रमाण न तो इन्द्रियप्रत्यक्ष है और न व्याप्तिमूलक अनुमान ही है, वह प्रमाण सूक्ष्म और अतीन्द्रिय विषयोंका साक्षात्कार कर सकता है, ऐसा उन्हें अनुभव हुआ। इससे उन्होंने कहा कि प्रमाण केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष या केवल अनुमान ही नहीं है, पर इनसे भी परे एक अतीन्द्रियप्रत्यक्ष—एक आर्षज्ञान या ऋतम्भरा प्रज्ञा[1] भी है। यही आगम-प्रमाणका मूल है। इस तरह प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण मौलिक हैं, जिनमें आगम अपने मूल अर्थमें सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष और अनुमानके सभी विषयोंका समावेश हो जाता है।

दार्शनिक प्रस्थानभेदके मूल कारण तो ये तीन प्रमाण ही हैं, पर प्रमाणके बारेमें भी दार्शनिक क्षेत्रमें संक्षेप-विस्तार होता रहा है[2]। किसीने आगमका समावेश अनुमानमें किया है, तो दूसरोंने अनुमानके अवान्तर प्रकारोंके रूपमें अर्थापत्ति आदि प्रमाणोंकी भी कल्पना की है। यहाँ एक बात नोट करनी चाहिए कि योगी मूलमें ऋतम्भरा प्रज्ञाको ही आगम मानते थे, पर उनके विचार शब्दोंमें अभिव्यक्त होने पर वे शब्द भी आगम माने गये और वह शब्दागम सम्प्रदायभेदोंके प्रवाहमें

---

१. योगसूत्र १. ४८-९।

२. प्रत्यक्षमात्रवादी चार्वाक, अनुमानके साथ दो प्रमाण माननेवाले बौद्ध आदि, आगमके साथ तीन प्रमाण माननेवाले सांख्य आदि, उपमानके साथ चार प्रमाण माननेवाले नैयायिक आदि, अभावके साथ पाँच प्रभाकर, अर्थापत्तिके साथ छः कुमारिल, चरकके मतमें युक्तिके साथ सात, ऐतिह्यके साथ आठ पौराणिक, सम्भव आदिके साथ अन्य वादी। देखो 'तत्त्वसंग्रह' (का० १२१३ से १७०८) प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रमाणान्तरपरीक्षा तथा युक्तिदीपिका पृ० ३६-९।

'मणिमेखलाई' में वेदव्यास, कृतकोटि और जैमिनिके मतके अनुसार दस प्रमाण हैं ऐसा कहा है। स्वभाव और परिशेष ये दो और भी नाम मिलते हैं। देखो—Manimekhalai—in its Historical Settings' by Aiyangar pp. 57 and 189.

दाखिल होने पर उसमें प्रत्यक्ष और अनुमानके अनेक अंश भी आगमके रूपमें प्रविष्ट हो गये; इतना ही नहीं, बहुत बार तो आगमकी प्रतिष्ठाके कारण उसमें सम्बद्ध-असम्बद्ध कल्पनाएँ भी दाखिल हो गईं[1]। पर हमें तो यहाँ इतना ही देखने का है कि दार्शनिक प्रस्थानोंके भेदमें जो मूलभूत तात्त्विक मान्यताका भेद है वह मुख्यतः किस किस कोटिकी प्रमाणशक्तिके आधार पर है। ऊपरकी चर्चासे संक्षेपमें हमने यह देखा कि ऐसी प्रमाणशक्ति त्रिभूमिक है; बाक़ीकी प्रमाणचर्चा इसीका पल्लवन है।

मणिमेखलाई नामक तामिल ग्रन्थमें दस प्रमाणोंका निर्देश है, तो चरक, मीमांसा, पुराण आदिमें नौ, आठ और छः प्रमाण तकका उल्लेख है।

प्रमाणचर्चाकी गौणता और स्वतंत्रताका युग

उपनिषदों एवं आगम-पिटकोंमें जो जो भौतिक-अभौतिक अथवा जड़-चेतनके बारेमें निरूपण देखा जाता है वह सब किसी-न-किसी प्रमाणके आधार पर ही होता है, पर उन प्राचीन ग्रन्थोंमें प्रमाणशास्त्र जैसा कोई जुदा विभाग नहीं था। ऐसा कार्य तो दार्शनिक सूत्रकालसे शुरू हुआ और उत्तरोत्तर विकसित होता गया; वह यहाँ तक कि वैदिक, जैन, बौद्ध, चार्वाक आदि सभी दार्शनिकोंको अपने अपने ग्रन्थोंमें स्वाभिमत प्रमाणविभागकी विशेष विस्तारसे चर्चा करनी पड़ी है। ऐसा करके उन्होंने एक तरहसे यह भी स्पष्ट कर दिया है कि हम जो कुछ कहते या मानते हैं वह इन और ऐसे प्रमाणोंके आधार पर, जिससे विरोधी प्रतिवादी या श्रोता इस भ्रममें न रहे कि वह (वादी) जो

---

१. इसके लिए देखो युक्तिदीपिका का विवरण करनेवाली पुस्तक 'Origin and Development of the Sāṃkhya System of Thought' पृ० २२२ से आगे।

कुछ कहता है वह सब हमारी (प्रतिवादीकी) प्रमाण-विषयक कल्पनाके आधार पर ही कहता है। दार्शनिक विद्वान् प्रमेयतत्त्वकी भाँति प्रमाणतत्त्वकी चर्चामें भी बहुत गहराईमें गये हैं और प्रमाण क्या, उसके उत्पादक और ज्ञापक कारण कौनसे हैं इत्यादि के विषयमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म ऊहापोह करके उन्होंने स्वतंत्र प्रमाणविद्याकी ही सृष्टि की है[1]।

प्रो० मेक्समूलर अपने 'Six Systems of Indian Philosophy' में न्यायदर्शनकी चर्चा करते हुए एक बात कहते हैं कि भारतीय दार्शनिक प्रमेयतत्त्वकी चर्चा करनेसे पहले प्रमाणतत्त्वकी चर्चा कर लेते हैं। यदि सर्वत्र यह मार्ग अपनाया जाता तो बहुतसी ग़लतफ़हमियाँ दूर हो जातीं।

समयकी दृष्टिसे दार्शनिक विचारप्रवाह दो भागोंमें अत्यन्त स्पष्ट रूपसे विभक्त देखा जाता है : बुद्ध-महावीरके समय तकका एक प्रवाह और उसके बाद आज तकका दूसरा प्रवाह। प्रथम प्रवाहमें प्राचीन उपनिषदोंके अंश, महाभारतके प्राचीन अंश तथा बौद्ध पिटक एवं जैन आगमके प्राचीन अंश आते हैं, तो दूसरे उत्तरकालीन प्रवाहमें दार्शनिक सूत्ररचनासे लेकर अबतकके समग्र वाङ्मयका समावेश होता है। इस तरह अनेक दृष्टियोंसे ये दो प्रवाह भिन्न होने पर भी उनमें मौलिक प्रश्नोंके बारेमें एकरूपता और सातत्य देखा जाता है। उत्तरकालीन वाङ्मयमें जिन प्रमुख दार्शनिक प्रश्नोंकी चर्चा हुई है उन्हीं प्रश्नों की चर्चा पूर्व-कालीन विचारप्रवाहमें हुई है। फिर भी दोनों में महद् अन्तर है। संक्षेपमें वह अन्तर दो बातोंमें दिखाई पड़ता है : (१) प्राचीन विचार-प्रवाहका लक्षण यह है कि उसमें तत्त्वचिन्तक जो स्थापित करना हो उसका प्रतिपादक शैली से निरूपण करता है ; मानो उसे कहनेकी वस्तु

---

१. इसके बारेमें देखो स्वत: परतः प्रामाण्यकी चर्चावाला मेरा लेख, 'दर्शन अने चिन्तन' (गुजराती) पृ० १०३२।

आर्षदृष्टिसे निश्चित हो। बीच-बीचमें जहाँ उसे मतान्तरका निरास करना होता है वहाँ वह प्रायः उस-उस मतान्तरका उल्लेख मात्र करके इतना ही कह देता है कि वह दृष्टि मिथ्या है या सम्यक् नहीं है। अथवा तो वह ऐसे मतान्तरोंको अपने सिद्धान्त तक पहुँचनेके पूर्व-पूर्व सोपानके रूपमें सूचित करके उन मतान्तरोंका भी अधिकारभेदसे समन्वय करता है[1]। (२) दूसरा लक्षण यह है कि उत्तरकालीन विचारप्रवाहमें मुख्य प्रश्नके आसपास जो बातें आई हैं और उनमेंसे उपस्थित होनेवाले जिन दूसरे नये मुद्दोंकी चर्चा है वह पूर्वकालीन विचारप्रवाहमें नहीं है।

आर्यावर्तमें दार्शनिक चिन्तन प्राचीन समयसे कैसा चलता आया है और वह कितना विपुल है, इसके बारेमें पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानोंने महत्त्वपूर्ण संशोधन किया है। उसे देखनेसे और उसमें आनेवाले मूल ग्रन्थोंका पर्यवेक्षण करनेसे किसीको भी यह ज्ञात हो सकेगा कि उक्त दोनों प्रवाहोंमें मुख्य दार्शनिक प्रश्नोंकी किस तरह एक-जैसी चर्चा होती रही है।

उत्तरकालीन दर्शन-साहित्यके विशिष्ट लक्षण

सामान्य रूपसे बुद्ध-महावीर के बाद दार्शनिक सूत्रकाल शुरू होता है। इस सूत्रकालमें दार्शनिक सूत्रोंने जो नवीनता धारण की, उसके प्रेरक बल संक्षेपमें इस प्रकार हैं—

---

१. अधिकारभेदसे समन्वयके उदाहरणके लिए देखो मधुसूदन सरस्वतीकृत 'प्रस्थानभेद', विज्ञानभिक्षुकृत 'सांख्यप्रवचनभाष्य' पृ० २ से आगे (चौखम्भाकी आवृत्ति) तथा नागार्जुनकृत 'माध्यमिककारिका' में—

सर्वं तथ्यं न वा तथ्यं तथ्यं चातथ्यमेव च।
नैवातथ्यं नैव तथ्यमेतद्बुद्धानुशासनम्॥ १८. ८ और इसकी वृत्ति;

देखो योगदृष्टिसमुच्चय का १३२ से; 'तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः'—प्रत्यभिज्ञाहृदय सू० ८।

१. प्रत्येक प्रश्नका लक्षणपुरस्सर व्यवस्थित निरूपण ।

२. परीक्षापद्धति—जिसमें पर-तंत्रसम्मत मन्तव्यका उत्तरोत्तर विशेष विश्लेषणपूर्वक निराकरण और स्व-तंत्रसम्मत मन्तव्यकी सतर्क स्थापनाका प्रयत्न ।

३. पर-तंत्रके शक्य सभी मन्तव्योंका अधिकसे अधिक विशाल एवं गहरा अभ्यास और उसके द्वारा यथास्थान स्व-तंत्रके मन्तव्योंको विशद एवं परिमार्जित करनेकी वृत्ति ।

४. गद्य, पद्य एवं मिश्र रूपमें उत्तरोत्तर विशेष और विशेष विकसनशील संस्कृत भाषाकी शैली और उसकी सूक्ष्मताका आश्रय लेकर अपनी-अपनी दार्शनिक परिभाषाओंका निर्माण और उसका असन्दिग्ध अर्थकथन ।

५. तर्क एवं अनुमान पद्धतिके उत्तरोत्तर होनेवाले विकासके कारण विकसित वादकला द्वारा भिन्न-भिन्न पक्षोंके बीच हुई प्रत्यक्ष और कल्पित चर्चाओंके माध्यमसे प्रश्नोंका विशदीकरण ।

६. सूत्र, वृत्ति, भाष्य, वार्तिक, टीका, अनुटीका आदि व्याख्या-ग्रन्थोंके अतिरिक्त प्रत्येक दर्शनके समग्र मन्तव्योंका संग्रह करनेवाले छोटे-बड़े स्वतन्त्र निबन्ध तथा ख़ास-ख़ास प्रश्नोंको लेकर लिखे जानेवाले छोटे-बड़े प्रकरण ।

७. ग्यारहवीं शतीके उपरान्त आविर्भूत नव्यन्यायकी परिभाषा और शैलीके विकासके द्वारा दार्शनिक प्रश्नोंके बारेमें कुछ अधिक गहराई ।

इन और इनके जैसे दूसरे बलोंके कारण उत्तरकालीन दार्शनिक-प्रवाहका स्वरूप इतना अधिक भिन्न-सा प्रतीत होता है कि मानो उसके अनुशीलनके समय उन्हीं प्राचीन प्रश्नोंके बारेमें हम किसी नये विचार-वर्तुलमें प्रवेश कर रहे हों । उत्तरकालीन विपुल और विविध

दार्शनिक-साहित्यका प्रत्येक परम्पराने ऐसी निष्ठा और जाग्रत् बुद्धिसे विकास किया है कि आज उसके सच्चे अभ्यासीको उसके प्रति अनन्य आदर-भाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता; इतना ही नहीं, उस साहित्य-राशिमें इतनी अधिक विचारसामग्री है कि कोई भी संशोधक उस क्षेत्रमें वर्षों तक काम करे तो भी उसे उसमेंसे नया-नया विचार या विषय मिलता ही रहेगा। इस साहित्यके रचयिताओंमें प्रत्येक परम्परामें होनेवाले कई असाधारण विद्वान तो ऐसे हैं कि अकेले उनका ही चिन्तन और लेखन अनेक विद्वानोंके ध्यानको रोक रखे ऐसा है।

उक्त सामान्य विधानोंको कतिपय दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट करने पर ही वे यथावत् ध्यानमें आ सकते हैं—

(१) लक्षणपुरस्सर व्यवस्थित निरूपणके उदाहरण कणाद, न्याय आदि प्रत्येक दर्शनके सूत्रग्रन्थ हैं। (२) परीक्षापद्धतिका उदाहरण नागार्जुनकी माध्यमिककारिका और न्यायसूत्र जैसे परीक्षा प्रधान ग्रन्थ हैं। (३) स्व-तंत्रके मन्तव्योंके परिमार्जनकी वृत्ति धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक, जयन्तकी न्यायमंजरी और वाचस्पति मिश्रके टीकाग्रन्थोंमें देखी जाती है। (४) परिभाषाओंका निर्माण और उनका असन्दिग्ध अर्थकथन— ये प्रत्येक परम्परामें रचित भाष्य, वार्तिक, टीका आदि ग्रन्थों द्वारा स्पष्ट है। (५) वादकलाके नमूनेके तौर पर उद्द्योतकरका न्यायवार्तिक, कुमारिलका श्लोकवार्तिक, प्रज्ञाकरका प्रमाणवार्तिकभाष्य और विद्यानन्दकी अष्टसहस्री आदि गिनाये जा सकते हैं। (६) स्वदर्शनके सभी प्रश्नोंको अपनेमें समेटनेवाले ग्रन्थोंके उदाहरण अकलंकका राजवार्तिक तथा विद्यानन्दका श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार ख़ास ख़ास मुद्दोंके ऊपर रचित ग्रन्थोंके उदाहरण ब्रह्मसिद्धि, आत्मसिद्धि, सर्वज्ञसिद्धि एवं कुसुमांजलि जैसे ग्रन्थ हैं। (७) नव्यन्यायकी परिभाषाका उदाहरण गंगेशके तत्त्वचिन्तामणि आदि ग्रन्थ हैं।

विचारणाकी प्रेरक दृष्टियाँ

दार्शनिक प्रश्न सामान्यतः जगत्, जीव, ईश्वर और मुक्ति—इन चार विभागोंमें समा जाते हैं, इन सभी प्रश्नोंकी छानबीन तीन दृष्टियोंके आधारपर हुई है : (१) लौकिक, लोकान्तर और लोकोत्तर। जो दृष्टि केवल दृश्यमान इहलोकको ही छूती है और इसीके आधार पर पदार्थोंकी चर्चा करती है वह लौकिक दृष्टि; जैसे कि चार्वाक आदि। (२) जो दृष्टि वर्तमान जन्मके अतिरिक्त पुनर्जन्मको ही मानकर चर्चा करती है वह है लोकान्तर दृष्टि ; जैसे कि चार्वाकके अतिरिक्त सभी आत्मवादी दर्शन। लोकान्तर दृष्टिमें लौकिक दृष्टिका अस्वीकार नहीं है। (३) जो दृष्टि मोक्षको लक्ष्य करके विचार करती है वह है लोकोत्तर दृष्टि। इसमें भी पूर्वोक्त दोनों दृष्टियोंका अस्वीकार नहीं है, फिर भी दार्शनिक चिन्तनमें ऐसे प्रवाह भी अस्तित्वमें आये हैं जिनमें ऐहिक दृष्टि ही नहीं, लोकान्तर दृष्टि भी गौण बन जाती है और केवल लोकोत्तर दृष्टिका ही प्राधान्य रहता है। तात्पर्य यह है कि लोकान्तर या लोकोत्तर दृष्टिके प्राधान्यके समय लक्ष्य बदल जाता है, इसलिए वर्तमान जीवन-प्रवाह वहीका वही रहने पर भी उसमें नये-नये मार्गोंकी साधना अस्तित्वमें आती जाती है और जीवनके प्रवाह बदलते जाते हैं। उदाहरणके लिए हम गीताको ही लें। यज्ञ, तप, ध्यान, दान, जप, स्वाध्याय, भक्ति आदि जो धर्म पहले सकामभावसे किये जाते थे उनकी उसमें निष्कामभावसे ही प्रतिष्ठा की गई है और वे सभी धर्म कर्ममार्गके अङ्ग बन जाते हैं।

दर्शनोंके विविध वर्गीकरण

अपने समयमें प्रचलित दर्शनोंका संक्षेपमें सर्वप्रथम निरूपण करनेवाले आचार्य हरिभद्रने षड्दर्शनसमुच्चयमें छः दर्शन स्वीकार किये हैं। उनमें वैदिक और अवैदिक दोनों आते हैं। अवैदिकमें बौद्ध, जैन एवं चार्वाक हैं, जबकि वैदिकमें न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और मीमांसा हैं। परन्तु

१४वीं शतीके माधवाचार्यने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में सोलह दर्शनोंका निरूपण किया है। उसमें प्रायः वैदिक-अवैदिक सभी दर्शन आ जाते हैं, फिर भी श्रीकण्ठके शिवाद्वैत आदि कई दार्शनिक परम्पराओंका उसमें भी समावेश नहीं हो पाया है।

प्रो० मेक्समूलरने 'The six systems of Indian Philosophy' में जिन छः दर्शनोंका निरूपण किया है वे सभी वैदिक दर्शन ही हैं।

लोगोंने दर्शनोंके वर्गीकरण[1] अपनी-अपनी ख़ास दृष्टिसे किये हैं, परंतु सामान्यतः उन वर्गीकरणोंमें ध्यान देने जैसी बात यह है कि अमुक दर्शन

---

१. महाभारत और पुराणोंमें दर्शनोंका वर्गीकरण कैसा है इसके लिए नीचे के श्लोक उपयोगी होंगे—

सांख्यं योगः पाशुपतं वेदा वै पञ्चरात्रकम्।
कृतान्तपञ्चकं ह्येतत् गायत्री च शिवा तथा॥

—अग्निपुराण २१९. ६१

एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च।
परस्पराङ्गान्येतानि पंचरात्रं च कथ्यते॥

—शान्तिपर्व ३३६. ७६

सांख्यं योगं पंचरात्रं वेदारण्यकमेव च।
ज्ञानान्येतानि ब्रह्मर्षे लोकेषु प्रचरन्ति ह॥
किमेतान्येकनिष्ठानि पृथङ्निष्ठानि वा मुने।
प्रब्रूहि वै मया पृष्टः प्रवृत्तिं च यथाक्रमम्॥

—शान्तिपर्व ३३७, १-२

ब्राह्मं शैवं वैष्णवं च सौरं शाक्तं तथार्हतम्।
षड्दर्शनानि चोक्तानि स्वभावनियतानि च॥

—वायुपुराण १०४. १६

इसी प्रकार 'सुन्दर ग्रन्थावली—सर्वांगयोगप्रदीपिका' के पृ० ८८ से ९४ में ९६ पाखण्डोंका वर्णन आता है। डॉ० अग्रवाल द्वारा सम्पादित 'पदमावत' के पृ० ३० पर दर्शनोंकी संख्याका निर्देश है।

वेदका प्रामाण्य-स्वीकार करके ही प्रवृत्त हुए हैं, जब कि दूसरे उसका प्रामाण्य न मानकर अपने सर्वथा मान्य व्यक्तिका प्रामाण्य स्वीकार करके प्रवृत्त हुए हैं। वेदप्रामाण्यवादी दर्शनोंमें पूर्वमीमांसक, उत्तरमीमांसक, न्याय और वैशेषिक हैं, जब कि व्यक्तिविशेषप्रमाणवादी दर्शनोंमें बौद्ध, जैन, शैव आदि दर्शन हैं।

दर्शनोंमेंसे सांख्य-योग एवं न्याय-वैशेषिक दर्शनोंकी एक असाधारण विशेषता जानने जैसी है। वह यह है कि ये दर्शन अपने-अपने मन्तव्योंकी मुख्य रूपसे प्रत्यक्ष और अनुमानप्रमाण द्वारा ही चर्चा और स्थापना करते हैं। वे शास्त्रविशेषका प्रामाण्य मानते हों तो भी अपने मन्तव्योंकी स्थापनामें अथवा पर-पक्षके निराकरणमें वैसे किसी शास्त्रका कोई आधार नहीं लेते, जैसा कि पूर्वमीमांसक या वेदान्ती वैदिक वाक्यों और उपनिषदोंका आधार लेते हैं; अथवा स्थविरयानी एवं महायानी सभी बौद्ध बुद्धके वचनोंका और जैन महावीरके वचनोंका आधार लेते हैं। इस परसे यों कहा जा सकता है कि दर्शनोंमेंसे न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग मुख्य रूपसे तर्क अथवा अनुमानप्रधान हैं और आर्षज्ञानको मानने पर भी वह ज्ञान उनके निरूपणका प्रधान साधन नहीं बनता। इतर दार्शनिकोंमें जब भीतर ही भीतर विचारभेद पैदा होता है तब हरएक शाखा-प्रशाखा अपने-अपने अभिप्रेत अर्थको सिद्ध करनेके लिए मुख्य रूपसे ग्रन्थोंका ही आश्रय लेती है और उन ग्रन्थोंके आधार पर तर्कके बलसे अपना अभिप्रेत अर्थ उसमेंसे घटाती है; जब कि न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग परम्पराओंमें आपस-आपसमें विचारभेद उपस्थित होने पर वे अपनी परम्पराको मान्य ऐसे सर्वसम्मत ग्रन्थोंका आश्रय लिये बिनाही केवल युक्ति और विचारबलसे ही अपने-अपने विचारोंका समर्थन करते हैं।

व्याख्यान ३

जगत् : अचेतन तत्त्व

सामान्यतः 'जगत्' पदके अर्थमें चेतन-अचेतन दोनों भावोंका समावेश होता है, परन्तु चेतनके बारेमें स्वतंत्र रूपसे दूसरे व्याख्यानमें कहनेका है, अतः यहाँ 'जगत्' पदसे केवल अचेतन भाव ही विवक्षित है।

जगत्का स्वरूप क्या है? उसके कारण कौन-से और कैसे हैं? मूल कारणोंके ऊपरसे सृष्टिकी रचनाका क्रम कैसा है? और इस रचनाकी प्रक्रिया अपनेआप चलती है अथवा इसके संचालक तत्त्व मूल कारणोंसे भिन्न दुसरे कोई हैं?—इत्यादि प्रश्न मानवमनमें एक साथ ही अथवा क्रमशः उत्पन्न हुए होंगे। इनका उत्तर पानेके लिए अनेक दिशाओंमेंसे प्रयत्न हुए। इन प्रयत्नोंके परिणामस्वरूप जो तत्त्ववाद स्थिर हुए हैं और पहले ही से जिनकी चर्चा होती आई है उन परसे हम यहाँ समझनेका प्रयत्न करेंगे कि जगत्के बारेमें चिन्तक क्या क्या सोचते-विचारते थे।

जगत्के विषयमें चार्वाक दृष्टि

मूल कारणकी शोध करनेवालोंकी मुख्य रूपसे दो वृत्तियाँ देखी जाती हैं : पहली वृत्ति जगत्के मूलमें, उसके कारणके तौर पर, किसी एक तत्त्वकी शोध करनेवाली है; जब कि दूसरी वृत्ति उसके मूल कारणके रूपमें अनेक तत्त्वोंकी खोज करनेवाली है। पहली वृत्ति मुख्य रूपसे उपनिषदोंमें पाई जाती है, जब कि दूसरी वृत्ति जैन, बौद्ध आदि श्रमणमार्गीय परम्पराओंमें देखी जाती है। मूल एक तत्त्वकी

खोज करनेवाला हो या अनेक तत्त्वोंकी, पर इस खोजका प्रारम्भ तो इन्द्रियगम्य विषयसे ही होता है। अतएव चिन्तक कोई भी हो, वह सर्वप्रथम यह देखता है कि इन्द्रियगम्य विषय कौन-से और कैसे हैं? उक्त दोनों प्रकारकी वृत्तियोंकी यह सामान्य भूमिका है। ऐसा ज्ञात होता है कि सबसे पहले जो इन्द्रियगन्य जगत् ध्यानमें आया उसीको लक्षमें रखकर कई चिन्तकोंने जगत्‌का स्वरूप पंचभूतमय अथवा पंचधातु या स्कन्धमय मान लिया और इसी मान्यताके आधारपर वे दूसरी सब स्पष्टताएँ करने लगे। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच भूत कहे जाते हैं। इन्हींको स्कन्ध भी कहते हैं। 'धातु' और 'काय' ये शब्द भी इस अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। आगे चलकर इसके लिये 'द्रव्य' पदका भी प्रयोग हुआ है। पृथ्वी आदि चार तत्त्व इन्द्रिय-गम्य होनेसे उनके विषयमें तो कोई विप्रतिपत्ति या मतभेद है ही नहीं। इसी प्रकार चार तत्त्वोंके आधारके रूपमें आकाशतत्त्व भी सर्वसम्मत है। इस अर्थमें 'भूत' पदका प्रयोग हुआ, अर्थात् ये तत्त्व अस्तित्व रखते हैं और सत्य भी हैं। जैसे कोई वृक्ष तने—स्कन्धके आधार पर खड़ा रहता है, वैसे ही इन पाँच भूतोंके आधार पर जगत्-मण्डप खड़ा है। अतः इन भूतोंको स्कन्ध भी कहा गया है। धातुका अर्थ भी ऐसा ही है। जो विश्वका धारण-पोषण करे वह धातु—जिस भाँति वात-पित्त-कफ़ शरीरके धारक और पोषक होनेसे धातु कहलाते हैं, ठीक उसी भाँति। कायका अर्थ है संघटित संस्थान। उक्त तत्त्व विश्वके भिन्न-भिन्न संस्थान होनेसे काय भी कहलाते हैं। ये ही तत्त्व देश और कालके पेटमें अनुभवगोचर होनेवाले विविध गुण और क्रियाओंके द्रव अर्थात् प्रवाहवाले होनेसे द्रव्य भी कहे जाते हैं। इस तरह जगत् पाँचभौतिक है, ऐसी मान्यता अस्तित्वमें आई। इन पाँच भूतोंका निर्देश उपनिषदोंमें तथा बौद्ध एवं जैन आदिके प्राचीन ग्रन्थोंमें भी

मिलता है।[1]

परन्तु जैसे-जैसे खोज आगे बढ़ती गई और इन्द्रियगम्य स्थूल भौतिक कारण परसे सूक्ष्म कारणकी ओर मुड़ी, वैसे-वैसे पाँचभौतिक मान्यताका सम्प्रदाय उससे अलग पड़ गया। वह वहीं ठहर गया और स्थापित करने लगा कि पाँच भूतोंके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है। यह मत बार्हस्पत्य, लोकायत, पौरन्दर या चार्वाकके नामसे प्रसिद्ध है। इसमें कालक्रमसे आकाश सिवायके चार भूत माननेकी एक परम्परा भी चली है।

सूक्ष्म कारणकी शोधके प्रस्थान

जो चिन्तक मात्र इन्द्रियगम्य तत्त्वोंके विचारसे ही सन्तुष्ट नहीं थे, उन्होंने इन तत्त्वोंके कारणकी विचारणा करना शुरू किया। उन्हें ज्ञात हुआ कि दृश्य भौतिक तत्त्व उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं। जो वस्तु कार्यरूप होती है उसका कारण भी होना ही चाहिए और कारणसे विरूप कार्य हो ही नहीं सकता—ऐसे कार्यकारणभावके तथा सादृश्यके सिद्धान्तका अवलम्बन लेकर उन्होंने कारणकी मीमांसा शुरू की। उनमेंसे जो मुख्य रूपसे वायुतत्त्वके संस्कारवाले थे उन्होंने वायुके रूपमें मूल कारण मानकर उसमेंसे ज्ञातसृष्टि घटाई। जो आप अर्थात् जल और तेज अर्थात् अग्नि तथा आकाश तत्त्वके उपासक थे उन्होंने उस उस नामसे एक ही तत्त्वको मूल कारण मानकर अपने-अपने ढंगसे सृष्टि घटाई। इस प्रकार मूल कारणकी विचारणाके विविध प्रस्थान अस्तित्वमें आये। इनमें दूसरे एक प्रस्थानका भी समावेश हुआ। किसी ने सोचा कि दृश्य जगत् अस्तिरूप है, तो उसका कारण सत्

---

१. देखो 'सामञ्ञफलसुत्त' में अजित केसकम्बलीका मत; 'सूत्रकृतांग' १.१.१७ तथा 'भूतानि योनिः'—श्वेताश्वतरोपनिषद् १.२।

सदा अस्तिरूप ही होना चाहिए। इस तरह उसने सत् रूपमें ही मूल कारणका निरूपण किया। परन्तु किसीने ऐसा भी विचार किया होगा कि जिस तरह दृश्यमान पदार्थ 'नहीं होते' और फिर भी वे अस्तित्वमें आते हैं, उसी तरह मूल कारणके रूपमें कल्पित वह सत्-तत्त्व भी असत्‌मेंसे ही क्यों उत्पन्न नहीं हुआ होगा ?—इस प्रश्नने दूसरे किसी विचारकको ऐसा माननेके लिए प्रेरित किया कि मूल कारण, असत् अर्थात् नास्ति होना चाहिए। अबतकके प्रस्थानोंमें सत् और असत् ये दोनों विचार परस्पर सर्वथा विरोधी थे। विचारकोंमें प्रवर्तित यह विरोध मौलिक था। इसीलिए एक ऋषिने तैत्तिरीयमें प्रश्न किया कि जो सर्वथा असत् अथवा नास्तिरूप हो उसमेंसे सत् किस तरह पैदा हो सकता है, क्योंकि कार्य कारणसे विरुद्ध नहीं हो सकता। इस प्रश्नमेंसे दो ऐकान्तिक दृष्टियोंका समन्वयमार्ग भी किसीको सूझा। उसने कहा कि असत् अर्थात् सर्वथा नास्तिरूप नहीं, पर नाम-रूप स्वभावसे अव्यक्त दशा, इतना ही। उसमेंसे सत्‌का जन्म होता है—इसका अर्थ वह व्यक्त होता है इतना ही। इन सब विचारोंका उपनिषदोंमें भिन्न-भिन्न स्थानों पर उल्लेख मिलता है।[1]

नासदीयसूक्तमें असत् और सत्‌का जो निषेध है वह उपर्युक्त प्राथमिक दो एकान्तोंका ही निषेध है। पर सूक्तके प्रणेताको मूल

---

१. असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।—तैत्तिरीयोपनिषद् २.७ नैवेह किंचनाग्र आसीत्। मृत्युनैवेदमावृतमासीत्।—बृहदारण्यकोपनिषद् १.२.१ असदेवेदमग्र आसीत्। तत् सदासीत्। तत् समभवत्। तदाण्डं निरवर्तत।—छान्दोग्योपनिषद् ३.१९.१

तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तस्मादसतः सज्जायत। कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।—छान्दोग्योपनिषद् ६.२

कारणका स्वरूप अव्यक्त प्रतीत होता है ; इसीलिए वह अनेक विरोधी द्वन्द्वोंका निषेध करके 'आनीदवातम्' शब्दसे मूल कारणका स्फुरण सूचित करता है और उसके स्वरूपको अन्तमें प्रश्नके रूपमें उपस्थित करता है, जो एक तरहसे अव्याकृतका ही भाव अभिव्यक्त करता है।[1]

ऋग्वेदके[2] प्रथम मण्डलमें एक ही सत्-तत्त्वका अग्नि, आप आदि अनेक रूपमें वर्णन करनेवाले विचारकोंका निर्देश है। वह भी एक समन्वयमार्ग है। जैसे सत् और असत् इन दो एकान्तोंका अव्यक्त और व्यक्तरूपसे समन्वय हुआ, वैसे ही मूल कारणके रूपमें निर्विवाद-रूपसे स्वीकृत सत्-तत्त्वमें पहलेसे वायु, आप, अग्नि, आकाश आदि नामसे प्रवर्तमान भिन्न-भिन्न विचारप्रवाहोंका भी समन्वय हुआ।

अबतकमें दार्शनिक चिन्तन इतना तो स्थिर हुआ कि दृश्यमान विश्वका मूल कारण सत् है। वह केवल नास्तिरूप या अभावात्मक नहीं हो सकता। यह भूमिका मूल बहुतत्त्ववादी परम्पराओंमें भी सुरक्षित रही

---

१. को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आवभूव ॥ ६ ॥
इयं विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याऽध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥ ७ ॥
ऋग्वेद, नासदीयसूक्त, १०, १२९।

—अर्थात् 'साक्षात् कौन जानता है? यहाँ कौन कहेगा कि कहाँ से यह पैदा हुई? कहाँ से यह सर्जन हुआ? इसके सर्जन के पश्चात् देव हुए। अतः कौन जानता है कि किसमें से (यह सब) हुआ?

जिसमें से यह विसृष्टि हुई उसने उसका निर्माण किया कि नहीं? जो इसका अध्यक्ष परम व्योम में है वही जानता है, अथवा वह भी न जानता हो।'

२. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।—ऋग्वेद १. १६४. ४६

है। न्याय-वैशेषिक सत्ताको शाश्वत मानते हैं[1]। अक्षपाद भी अभावके एकान्तका निषेध करता है।[2] जैन परम्परा भी मूल तत्त्वका अस्तिकायके रूपमें ही वर्णन करती है[3]।

परन्तु चिन्तक मूल कारण सत् रूप है, इतने विचारसे ही सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्हें स्वाभाविक रूपसे प्रश्न हुआ कि मूल कारण सत् है यह तो ठीक है और वह अव्यक्त भी भले हो, किन्तु उसका स्वरूप तो कुछ तर्क या बुद्धिसे जानना और घटाना तो चाहिए ही। इस प्रश्नने कपिल जैसे किसी ऋषिको एक तरहसे प्रेरित किया, तो दूसरे किसी ऋषिको दूसरी तरह से प्रेरित किया। ऐसा प्रतीत होता है, कि यहाँसे मूल कारणके स्वरूपके बारे में दो प्रवाह बहने लगे हैं। जिन्होंने मुख्य-रूपसे बुद्धि अर्थात् संवेदनके आधारपर स्थूल भौतिक तत्त्वमेंसे मूल कारणकी शोध करना आरम्भ किया उनका एक प्रवाह और जिन्होंने मुख्य रूपसे इन्द्रियानुभवके आधार पर मूल कारणके स्वरूपकी विचारणा की उनका दूसरा प्रवाह।

जगत्‌के स्वरूप और कारणके विषयमें सांख्यदृष्टि

ऋषियोंने इन्द्रियोंसे होनेवाला भौतिक तत्त्वोंके रूप, रस, गन्ध,

१. सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्त्वं, बुद्धिलक्षणत्वं, अकारणत्वं, अ-सामान्यविशेषवत्त्वं, नित्यत्वं अर्थशब्दानभिधेयत्वं.......

——प्रशस्तपादभाष्य, साधर्म्य-वैधर्म्यप्रकरण

लक्षणभेदादेषां द्रव्यगुणकर्मभ्यः पदार्थान्तरत्वं सिद्धम्। अतएव च नित्यत्वम्।

——प्रशस्तपादभाष्य, सामान्यप्रकरण

२. न्यायसूत्र ४. १. १४-१८।

३. अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः। द्रव्याणि जीवाश्च। नित्यावस्थितान्यरूपाणि। रूपिणः पुद्गलाः। —तत्त्वार्थसूत्र ५. १.४

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणन्तपज्जाया।
भंगुप्पादधुवत्ता सपडिवक्खा हवदि एक्का॥ ८॥ ——पंचास्तिकाय

स्पर्श आदि गुणोंका विविध अनुभव तो स्वीकार किया, पर उस अनुभवमें से जो बुद्धिगत सुख, दुःख और मोहकी प्रतीति होती है उस प्रतीतिको प्राधान्य देकर उन्होंने सोचा तो ज्ञात हुआ कि अनुभवके विषय, अनुभवके उपकरण और अनुभव करनेवाली बुद्धि—ये सब सुख, दुःख एवं मोह-रूप हैं। उनमेंसे कोई एक इन भावोंसे मुक्त होता तो ऐसी प्रतीति नहीं होती। एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न द्रष्टाओंको सुख, दुःख अथवा मोहरूप अनुभूत होती है; इतना ही नहीं, एक ही द्रष्टाको एक ही वस्तु काल-भेदसे तथा अनेक वस्तुएँ एक साथ वैसी प्रतीत होती हैं। जब इन्द्रियानुभव प्रवर्तमान न हो तब भी बुद्धि सुख, दुःख और मोहकी कुछ-न-कुछ प्रतीति करती ही है। इस परसे ऐसा मानना चाहिए कि स्थूल या सूक्ष्म, वाह्य या आन्तर, ज्ञेय, ज्ञानोपकरण या ज्ञाता—ये सब सुख-दुःख-मोहात्मक ही होना चाहिए। इस प्रकार उन्होंने स्थूलसे सूक्ष्म बुद्धि तकका सारूप्य और उनके बीचका कार्यकारणभाव स्थापित किया। पर उन्हें तो इस व्यक्त बुद्धिसे आगे बढ़कर सत् और अव्यक्त-रूप माने गये मूल कारणके स्वरूपका स्पष्टीकरण करना था। इससे उन्होंने इस व्यक्त बुद्धिके कारणके रूपमें उसी सर्वस्वीकृत सत् और अव्यक्त तत्त्वको मान लिया। परन्तु मूल प्रश्न तो इस तत्त्वके स्वरूप-निर्णयका था। अतएव उन्होंने स्वयंस्वीकृत सुख-दुःख-मोहात्मक सामान्य तत्त्वके आधार पर उस मूल कारणका स्वरूप निश्चित किया। उन्होंने कहा कि यदि वस्तुमात्रमें सुख-दुःख-मोहात्मकता साधारण हो, तो उनके मूल कारणमें वे साधारण स्वरूपके नियामक अंश होने ही चाहिए। इस कल्पनाके बल पर उन्होंने ऐसे भी अंश मूल कारणमें माने कि जिनके आधारसे सूक्ष्म एवं स्थूल वैश्वरूप्यका स्पष्टीकरण भी हो और वह सामान्य स्वरूप भी अबाधित रहे। वे अंश हैं : सत्त्व, रजस् एवं तमस्। ये 'गुण' इस अर्थमें कहे जाते हैं कि ये मूल तत्त्वके

परस्पर अविभाज्य घटक हैं। इन तीन गुणोंके कार्य यद्यपि एक-दूसरेसे भिन्न हैं, फिर भी ये सब परस्पर सहकारपूर्वक अंगांगीभाव से प्रवृत्ति किया करते हैं। इसीलिए इन तीन गुणोंके अनन्तविध तारतम्यवाले पारस्परिक मिश्रणोंसे आगेकी समग्र सूक्ष्म-स्थूल सृष्टिका विकास होता है।

उनके मनमें ऐसा प्रश्न तो हुआ ही कि इस अन्तिम कारणका भी कारण क्यों न हो? इसका जवाब जैसा दूसरे सब दार्शनिक देते हैं वैसा उन्होंने भी दिया कि अन्ततोगत्वा कहीं पर तो विराम करना ही पड़ेगा। इस तरह इन विचारकोंकी दृष्टिसे त्रिगुणात्मक अव्यक्त ऐसा सत्-कारण माना गया, पर यहाँ पर पुनः अनेक प्रश्न खड़े हुए; जैसे कि—दृश्यमान जगत् निःसीम एवं विश्वरूप अर्थात् नानाविध है। इसी तरह वह स्थूलतम, स्थूलतर एवं स्थूल तथा सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम ऐसी अनेक कोटियोंमें विभक्त है। जिस तरह कालपटमें वह गतिशील है उसी तरह स्थितिशील भी प्रतीत होता है। तो इन सबका स्पष्टीकरण केवल एक ही मूल कारणमेंसे कैसे हो सकता है? इसके जो उत्तर दिये गये हैं वे संक्षेपमें इस प्रकार हैं—

मूल कारण सर्वव्यापी है। वह कालकी पूर्वापरान्त कोटिसे पर है। उसमें गति और स्थितिका भी सूक्ष्म बीज है और वह एक क्षण मात्रके लिए भी नये नये रूपान्तरोंमें परिणत हुए बिना रह ही नहीं सकता। ऐसा होने पर भी वह अपना मूल स्वरूप सर्वदा क़ायम रखता है। उसमें फूलनेकी अर्थात् सूक्ष्मतम अवस्थामेंसे सूक्ष्म अवस्थामें और इसी क्रमसे स्थूलतम भौतिक अवस्थातक परिणत होनेकी शक्ति है जिसकी वजह से वह एक ही तत्त्व, जैसे वटबीज महान् वृक्षको साकार करता है वैसे, विश्वरूप जगत्को, किसी दूसरेकी प्रेरणाके विना ही, स्वयम्भू शक्तिसे आकार प्रदान करता है। उसकी ऐसी शक्ति है कि कभी तो

वह सत्त्वप्रधान बुद्धिका रूप धारण करके सुख-दुःख आदि भावोंका अनुभव करता है, कभी वही अन्य अवस्था पाकर उस अनुभवका उपकरण बनता है, तो कभी वही तत्त्व उनकी (गुणोंकी) प्रधानतासे ग्राह्य अर्थात् विषयके रूपमें भी परिणत होता है। इस तरह उन विचारकोंने एकही मूल कारणके अन्तर्गत रही हुई नाना शक्तियोंके आधारपर समग्र विश्वका स्पष्टीकरण किया परन्तु उन्हें इस प्रश्नका जवाब तो देना ही था कि यदि विश्वरूप जगत् एक कारणमेंसे साकार हो, तो उसमें क्रम-विपर्यास क्यों नहीं होता ? पीछे होनेवाला परिणाम पहले और पहले होनेवाला पीछे क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर उन्होंने उस मूल तत्त्वमें कालशक्ति या क्रमनियम मानकर दिया है। उन्होंने कहा है कि इस मूल कारणकी परिणामशक्ति ऐसी है कि वह क्रमका उलंघन कभी नहीं करती और जैसे जैसे वह स्थूल परिणाम धारण करती है वैसे वैसे उस परिणामकी स्थिति एवं विस्तार घटते हैं तथा जब वह सूक्ष्म और सूक्ष्मतम परिणाम धारण करती है तब उसकी स्थिति और विस्तार बढ़ते हैं। इतना ही नहीं, अनन्तानन्त नये नये परिणामके रूपमें विकसित और व्यक्त होने पर भी वह मूल तत्त्व कम हुए बिना अनन्त ही रहता है।

यह विचारसरणी सांख्यदर्शनके नामसे प्रसिद्ध है। कपिल उसके आदिविद्वान् और परमर्षि समझे जाते हैं। इस विचारसरणीके बीजक उपनिषदोंमें तो हैं ही, पर महाभारत, चरक, पुराण, स्मृति एवं अनेक काव्योंमें भी इसकी अनेक रूपमें चर्चा हुई है। पातंजल योगशास्त्रकी तो यह आधारशिला है ही, पर हिरण्यगर्भकी प्राचीन योग-परम्पराकी भी यह भूमिका रही है। सामान्यतः ऐसा कहा जा सकता है कि इस सांख्य विचारसरणी और उसके कतिपय मौलिक सिद्धान्तोंने भारतीय दर्शनोंके बहुत बड़े भागको अपने अन्तर्गत समा लिया है, फिर भले ही उसमें दूसरा संशोधन-परिवर्द्धन हुआ हो।

ऊपर जो संक्षिप्त वर्णन किया है वह चौबीस तत्त्ववादी सांख्य-परम्पराको लक्ष्यमें रखकर किया है। इसके अनुसार हमने देखा कि मूल कारण, जो प्रकृतिके नामसे प्रसिद्ध है और आगे जाकर जिसे प्रधान भी कहा गया है, मेंसे ही ज्ञाता और भोक्ता, ज्ञान और भोगके साधन तथा ज्ञेय और भोग्य वस्तुएँ—ये सब परिणत होते हैं।

जगत्‌के स्वरूप और मूल कारणके विषयमें ब्रह्मवादी दृष्टि

परन्तु मूल कारणका विचार वहीं नहीं रुका। कई लोगोंको विचार आया कि विभक्तोंमें अविभक्त, विशेषोंमें सामान्य, व्यक्तमें अव्यक्त ऐसा त्रिगुणात्मक सर्वव्यापी और परिणामी द्रव्य भले हो, पर आख़िर तो वह सहज चेतना एवं आनन्दसे रहित है और सिर्फ़ अचेतन सत्त्व-रजस्-तमस् गुणोंका समुदाय है। तो उसमेंसे सर्वथा विलक्षण चेतन ज्ञाता-भोक्ताका उद्भव कैसे सम्भव है? इस प्रश्नने उन्हें एक ऐसा मूल तत्त्व मानने के लिए प्रेरित किया जो सत्, चित्, और आनन्द इस प्रकार त्रिरूप हो। चौबीस तत्त्ववादी सांख्यने सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन अंशोंवाली प्रकृतिको मूल माना था, तो इस नये प्रस्थानने उसके स्थानमें सत्, चित् और आनन्द ऐसे तीन अंशवाला चेतनतत्त्व मूल कारणके रूपमें कल्पित किया। अस्तित्व अंश दोनों मान्यताओंमें समान है। फ़र्क इतना ही है कि प्रथम मान्यतामें सत्त्वगुण ज्ञान, सुख आदि अनुभवके रूपमें परिणत होता है, उससे भिन्न कोई चेतना या आनन्द नहीं है, जबकि दूसरी मान्यतामें चेतना और आनन्द-अंश सहज हैं। उसीमेंसे ज्ञान, सुख, दुःख, आदि परिणामोंका आविर्भाव होता है। जब ऐसे सच्चिदानन्दरूप मूल तत्त्वकी कल्पना की गई, तब चिन्तकोंने उस तत्त्वको ही प्रधान या प्रकृतिकी भाँति परिणामी मानकर उसमेंसे सहज-शक्तिके बल पर ज्ञाता–भोक्ता जीव एवं ज्ञेय–भोग्य जड़ जगत् इन दोनों की उत्पत्ति घटाई। इस तरह मूल कारण प्रकृतिके स्थान पर एक दूसरे

मूल कारणकी कल्पना की गई। इसे ब्रह्म-तत्त्व भी कहते हैं और नारायण आदिके रूपमें भी इसका उल्लेख किया जाता है। यह विचारसरणी महाभारतमें तो है ही, पर गीतामें भी है। महाभारतमें जहाँ छव्वीस तत्त्ववादी सांख्य परम्पराका वर्णन आता है वहाँ यह मान्यता स्पष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्म, नारायण या सच्चिदानन्दरूप मूल तत्त्वके आधार पर जो विचारसरणी पैदा हुई वह बोधायन आदि आचार्योंकी परम्परामें सुरक्षित रही तथा विकसित हुई। वह ब्रह्म-तत्त्व एक तरफ़से त्रिगुणात्मक प्रकृतिका भी प्रभवस्थान है और दूसरी तरफ़से ज्ञाता–भोक्ता जीवका भी प्रभवस्थान है। इस तरह ब्रह्मवादियोंके मतसे ब्रह्मका जो प्रधानात्मक परिणाम है वही अचेतन विश्वकी कोटिमें आता है। यह परिणामिब्रह्मवाद कालक्रमसे विभिन्न परम्पराओंमें कुछ-न-कुछ भिन्न-भिन्न रूपसे निरूपित होता रहा है; जैसेकि-सोपाधिक ब्रह्मवाद, विशिष्टाद्वैत ब्रह्मवाद अथवा शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद। इन सब वादोंमें मूल तत्त्व तो एक ही है, पर वह परिणामी होनेसे उसमेंसे सारा वैविध्य घटाया जाता है।

जगत्के स्वरूप और कारणके विषयमें वैशेषिक दृष्टि

मूल एक तत्त्वकी शोधके विचारप्रवाहका यह संक्षिप्त निरूपण हुआ।[1] अब हम मूल-बहुतत्त्ववादी शोधको भी देखें। जो विचार बाह्य इन्द्रियोंके अनुभवको प्राधान्य देते थे उन्होंने पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय सृष्टिके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, द्रवत्व आदि गुणोंकी ओर मुख्य ध्यान दिया। उन्होंने कार्यकारण एवं सादृश्यका सिद्धान्त तो मान्य रखा, परन्तु उन्हें इन रूप, रस आदि गुणोंको स्थूल भूतोंमें

---

१. विविध कार्यों के ऊपर से सादृश्य के सिद्धान्त के आधार पर मूल एक कारण को ढूँढ़ने की प्रक्रिया सांख्यकारिका में स्पष्ट है। देखो सांख्यकारिका ८-१६।

होनेवाली अनुभूतिका स्पष्टीकरण उनके कारणोंमेंसे पाना था। अतएव वे दृश्य स्थूल भूतोंके कारणोंको भी समान गुणवाले ही मानकर कारण-परम्पराकी खोजमें आगे बढ़े। स्थूल पार्थिव वस्तुमें जिन गुणोंका अनुभव होता है वे उसके कारणमें भी होने ही चाहिए, और कारण तो कार्य से सूक्ष्म होगा ही। इस तरह विचार करने पर वे अन्तमें इस निष्कर्ष पर आये कि पार्थिवके अन्तिम कारण पार्थिव ही और जलीय, तैजस एवं वायवीय सृष्टिके मूल कारण भी उस उस तत्त्वकी जातिके ही होने चाहिए। इस अन्तिम मूल कारणके रूपमें उन्होंने जिन भूत तत्त्वोंकी कल्पना की वे परमाणुस्वरूप ही माने गये। इस परमाणुकी सूक्ष्मता अन्तिम कोटिकी होती है और इसका आगे विभाग भी नहीं होता। इस तरह अनेक जातिके सर्वथा परस्पर विलक्षण अनन्तानन्त पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय परमाणुओंके आधार पर उन्होंने कार्यजगत्की उपपत्ति की। कारण चाहे जितना सूक्ष्म हो, पर वह दूसरे सजातीय सूक्ष्म कारणोंके संयोगसे क्रमशः स्थूल और स्थूलतर कार्योंका आरम्भ करता है ऐसा मानकर उन्होंने आरम्भवाद स्थापित किया; अर्थात् दो परमाणुओंके संयोगसे एक नया द्व्यणुक द्रव्य उत्पन्न होता है जो कारणभूत दो परमाणुओंसे भिन्न होने पर भी उनमें व्याप्त होकर रहता है। इसी प्रकार तीन द्व्यणुकमेंसे एक त्र्यणुक और चार त्र्यणुकमेंसे एक चतुरणुक—इस क्रमसे उन्होंने पर्वत, नदी, सूर्य आदि स्थूल सृष्टिकी रचनाकी व्यवस्था की। इस वादकी[1] परिणामवादसे भिन्नता इस बातमें है कि परिणामवाद मूल कारणमें ही सभी क्रमिक कार्योंका

---

१. सदकारणवन्नित्यम्। तस्य कार्यं लिंगम्। कारणाभावात् कार्याभावः।
वैशेषिकदर्शन ३. ३. १-३

प्रशस्तपादभाष्य की सृष्टिसंहारप्रक्रिया में आये हुए ये वाक्य देखो—
ततः प्रविभक्ताः परमाणवोऽवतिष्ठन्ते। एवं समुत्पन्नेषु चतुर्षु महाभूतेषु।

अस्तित्व स्वीकार करके उन कार्योंका जब क्रमसे आविर्भाव होता जाता है तब भी उनमें मूल कारणको ओतप्रोत मानता है। ये आविर्भूत होनेवाले कार्य सर्वथा नये अस्तित्वमें नहीं आते, पर अव्यक्त रूपसे जो कारणमें थे वे ही निमित्त आदिकी अनुकूलता प्राप्त होने पर दृश्य बनते हैं। किन्तु आरम्भवादमें सभी कार्य कारणसे सर्वथा भिन्न और नये ही उत्पन्न होते हैं ऐसा माना जाता है। अर्थात् उस उस जातिके अनन्तानन्त परमाणु अपनी मूल स्थितिमें ज्योंके त्यों रह करके अपनेमेंसे ही सामग्रीके बल पर अपने जैसे असंख्य नये ही कार्योंका आरम्भ करते हैं। आरम्भवादमें कार्यकारणका सर्वथा भेद है, जबकि परिणामवादमें अभेदका प्राधान्य है। आरम्भवादमें पार्थिव कार्यके कारण पार्थिव परमाणु ही हैं और जलकार्यके जलपरमाणु। पार्थिव अनन्तानन्त परमाणु पृथ्वीरूपमें तुल्यजातीय होने पर भी परस्पर अत्यन्त व्यावृत्त होते हैं और पार्थिव द्रव्यमें सम्भावित सभी गुण अपनेमें रखते हैं। आरम्भवादके अनुसार पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय इस तरह चातुर्भौतिक अनन्तानन्त परमाणु जड़-जगत्के मूलकारण माने गये और साथ ही आकाश, दिशा, काल जैसे नित्य तत्त्वोंको भी जड़-जगत्में स्थान मिला। यह वैशेषिक मान्यता हुई, जो मूलमें अनेक तत्त्वोंको कारणके तौर पर माननेवालीं परम्पराओंमेंसे ही एक परम्परा है।

जगत्के स्वरूप और कारणके विषयमें जैन दृष्टि

ऐसा ही एक दूसरा भी विचारप्रवाह है जो मूलमें अनेक तत्त्वोंको कारण मानकर जगत्के स्वरूपके बारेमें विचार करता है[१]। वह प्रवाह

१. जैन परम्परा धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय नाम के दो द्रव्य मानती है। धर्मास्तिकाय का कार्य गति में उपयोगी होने का है, जबकि अधर्मास्तिकाय स्थिति में उपयोगी होता है। इन दो द्रव्यों की तुलना सांख्यसम्मत प्रधान तत्त्व के दो घटकों के साथ की जा सकती है। रजोगुण चल होने से गतिशील

जैन परम्पराके नामसे प्रसिद्ध है। वह कहता है कि अचेतन जगत् मूलमें चार अस्तिकायरूप है। उनमें आकाशतत्त्व तो एक ही है, जैसा कि वैशेषिकदर्शन मानता है। परन्तु मूल परमाणुओंके स्वरूपके बारेमें वह वैशेषिकदर्शनके आरम्भवादसे सर्वथा जुदा पड़ता है। जैन परम्परा मानती है कि परमाणु अनन्तानन्त तो हैं, पर उनमें पार्थिव, आप्य आदि जैसा कोई मौलिक भेद नहीं है। चाहे जो परमाणु निमित्तके अनुसार चाहे जो रूप धारण कर सकता है। जो परमाणु एक बार पार्थिवके रूपमें परिणत हुए हों वे ही दूसरी बार सामग्रीके बदलने पर जलीय, तैजस या वायवीय रूपमें भी परिणत हो सकते हैं। मतलब कि परमाणुओंमें कोई जातिभेद नहीं है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक परमाणुमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शकी शक्तियाँ समान हैं और वे निमित्तके अनुसार अनेक रूपमें परिणत हो सकती हैं। ऐसा नहीं है कि किसी एक परमाणुमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शकी अमुक ही शक्तियाँ हों और दूसरेमें वे न हों। सभी परमाणुओंमें ये शक्तियाँ मूलमें समान होने पर भी उनका परिणाम-वैचित्र्य सामग्रीभेदके कारण होता है। इसी भाँति इस परम्पराका ऐसा भी मन्तव्य है कि परमाणुओंके संघातसे पैदा होनेवाला स्कन्ध वैशेषिक मान्यताके जैसा कोई नया द्रव्य नहीं है, वह तो परमाणुसमुदायकी एक विशिष्ट रचना या संस्थान मात्र है। वैशेषिक परंपरा परमाणुओंको कूटस्थनित्य मानती है

है। वह प्राकृत कार्यों को गति में रखता है, जब कि तमोगुण गति का नियंत्रण करता है (सांख्यकारिका १३)। इसके साथ ईश्वरकृष्ण की—

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः॥ ४४॥

यह कारिका शब्द दृष्टि से तुलना करने जैसी है।

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः। १। द्रव्याणि जीवाश्च। २। गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः। १७।
—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५

और उत्पन्न-विनष्ट होनेवाले द्रव्य या गुण एवं कर्म इन सबको सर्वथा भिन्न मानकर उनकी कूटस्थनित्यता सिद्ध करती है, जब कि जैन परंपरा ऐसी कूटस्थनित्यता न मानकर सांख्यसम्मत परिणामिनित्यता मानती है। और सब परमाणुओंको अपने-अपने वैयक्तिक स्वरूपमें शाश्वत मानने पर भी उनके स्कन्ध और उनमें पैदा होनेवाले गुण-कर्मको मूल परमाणुओंके परिणाम मानकर उनसे अभिन्न और फिर भी कुछ भिन्न मानकर परिणामिनित्यताकी व्याख्या करती है।[1]

जिस प्रकार सांख्य परम्परा मूल एक ही प्रकृतिमेंसे गुणोंके तारतम्ययुक्त मिश्रण और परिणामशक्तिके आधार पर स्थूल-सूक्ष्म जगत्का वैश्वरूप घटाती है, उसी प्रकार जैन परम्परा अनन्तानन्त परमाणुओंकी परिणामशक्ति और उसके विविध संश्लेषण-विश्लेषणके आधार पर स्थूल-सूक्ष्म समग्र भौतिक सृष्टिको उपपत्ति करती है। वैशेषिक और जैन परम्पराके बीच परमाणुओंके स्वरूपके बारे में अनेक प्रकारकी भिन्न-भिन्न मान्यताएँ प्रचलित हैं। यहाँ पर तो ध्यान देने योग्य एक भेदका उल्लेख करके हम इस विचारसरणीका विवेचन पूर्ण करेंगे। वह भेद परमाणुके क़द या परिमाण विषयक है। वैशेषिक परम्परा सूर्यजालमें दिखाई पड़नेवाले रजःकणके छठे भागको ही अन्तिम परमाणु मानकर वहीं विरत होती है, तो जैन परम्परा ऐसे एक परमाणुको भी अनन्तानन्त परमाणुओंका स्कन्ध मानती है और ऐसा कहती है कि जितने अवकाशमें एक अन्तिम परमाणु रहता है उतने ही अवकाशमें वैसे दूसरे अनन्तानन्त परमाणु ही नहीं वैसे स्कन्ध भी रह सकते हैं। इस तरह देखने पर

१. देखो तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ सू० ४, १०, ११ और २३ से २८। पुद्गल की विशेष विचारणा के लिए देखो 'स्थानांग-समवायांग' (गुजराती अनुवाद : प्रकाशक गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद) पृ० ५३१ से तथा 'लोकप्रकाश' भाग १, सर्ग ११।

जैन परम्परासम्मत परमाणु व्यक्तिशः अनन्तानन्त होने पर भी उसकी सूक्ष्मता ऐसी हो जाती है कि मानो सांख्यकी प्रकृतिकी ही सूक्ष्मता हो ! अलबत्ता, यह तो फर्क है ही कि प्रकृति सूक्ष्म होने पर भी एक और व्यापक है, जबकि वे परमाणु सूक्ष्म होने पर भी अनन्तानन्त और परम अपकृष्ट हैं ।

जगत्के विषयमें भिन्न-भिन्न बौद्ध दृष्टियाँ

बौद्ध परम्परा जगत्को रूपात्मक कहती है। उसके मतानुसार रूप अर्थात् 'मात्र नेत्रग्राह्य' इतना ही अर्थ नहीं है, पर जो जो इन्द्रिय-ग्राह्य हो सके उन सब भूत-भौतिक तत्त्वोंको वह रूप कहती है। न्याय-वैशेषिक एवं जैन परम्पराकी भाँति बौद्ध परम्पराने भी इन्द्रियग्राह्य स्थूलरूप, रस आदि भौतिक कार्यको प्रधान रखकर उसके कारणका विचार किया है। उसने भी कार्यकारणके सिद्धान्तमें सादृश्यका सिद्धान्त स्वीकार किया है; अर्थात् जैसा कार्य वैसा ही कारण। यदि भौतिक कार्य रूप, रस आदिके रूपमें इन्द्रियग्राह्य है तो उसका सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम अर्थात् अतीन्द्रिय अन्तिम कारण भी वैसा ही अर्थात् रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि स्वरूप ही हो सकता है। इस विचारसरणीके अनुसार उसने स्थूल-सूक्ष्म समस्त जगत्का निर्देश 'रूप' पदसे किया[1]। परन्तु बौद्धसम्मत 'रूप' अर्थात् भूत-भौतिक और न्यायवैशेषिक एवं जैनसम्मत भूत-भौतिकके स्वरूपके बीच बहुत बड़ा अन्तर है। जिस प्रकार न्यायवैशेषिक और जैन परम्परा अणु-परमाणुवादी है उसी प्रकार बौद्ध परम्परा भी अणु-परमाणुवादी है; फिर भी इसकी मान्यता एक ओर जहाँ सांख्यसम्मत एक प्रकृतितत्त्ववादसे अलग पड़ती है वहाँ दूसरी

---

१. विसुद्धिमग्ग १४. ३३-६० ।

और न्यायवैशेषिक एवं जैनसम्मत नित्य और अनन्त परमाणुतत्त्ववादसे भी अलग पड़ती है।

बौद्ध परम्परा भूतबहुत्ववादी है, परन्तु वह किसी भी तत्त्वमें नित्यत्व या ध्रुवत्व स्वीकार नहीं करती। वह कहती है कि तत्त्वका गठन ही सतत परिवर्तित होते रहनेका है। वह काल नामके किसी स्वतंत्र तत्त्वके असरसे वस्तुमें परिवर्तन न मानकर वस्तुमात्रके स्वभावसे ही प्रवर्तमान क्षणिक परिवर्तनके क्रमको ही काल कहती है। इसीसे वह सांख्य और जैनकी भाँति प्रत्येक क्षणमें होनेवाले नये-नये परिणामों या पर्यायोंको धारामें सदा अनुस्यूत ऐसा कोई तत्त्व नहीं मानती; किन्तु वह सतत गतिशील क्षणिक परिवर्तनधाराको स्वीकार करती है। सांख्य दृष्टिसे अनेक क्रमिक परिणामोंमें एक प्रकृतितत्त्व सदा वर्तमान और व्यापक होता है, फिर भले ही वह परिणामोंके अनुसार स्वयं भी अवस्थान्तर प्राप्त करता रहे। न्यायवैशेषिक दृष्टिसे जब नये-नये द्रव्य आदि कार्य उत्पन्न होते हैं तब उन कार्योंके आधाररूप मूल परमाणु, किसी भी प्रकारके परिवर्तनके बिना, कूटस्थनित्य रहते हैं। जैन दृष्टिके अनुसार नये-नये भौतिक कार्योंका आधार भी परमाणु ही हैं फिर भले ही वे परमाणु वैशेषिक मतकी भाँति कार्योंसे सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र न हों। परन्तु सांख्य, न्याय-वैशेषिक और जैन इन सबमें एक बात समान है और वह यह कि धर्मीके रूपमें मूल द्रव्यका व्यक्तित्व अखण्ड रहना। सांख्य मतके अनुसार जैसा एक प्रकृतितत्त्वका व्यक्तित्व सर्वाधार या सर्वधर्मीकी दृष्टिसे अखण्डित रहता है,[1] वैसा ही न्यायवैशेषिक[2] और जैन मतके[3] अनुसार भी अनन्तानन्त परमाणुओंका व्यक्तित्व सदातन

१. सांख्यकारिका १०।

२. आश्रितत्वं चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः।...अनाश्रितत्वनित्यत्वे चान्यत्र अवयविद्रव्येभ्यः। —प्रशस्तपादभाष्य, द्रव्यसाधर्म्यप्रकरण

३. नित्यावस्थितान्यरूपाणि। रूपिणः पुद्गलाः। —तत्त्वार्थसूत्र ५, ३-४

रहता है। इस तरह ये तीनों परम्पराएँ अपने-अपने ढंगसे नित्य धर्मिवादी हैं, जब कि बौद्ध परम्परा इनसे अलग पड़ती है। वह कहती है कि पूर्व और उत्तर क्षणके रूपमें जो दो भिन्न कार्य होते हैं उनमें कोई एक अनुगामी धर्मी—तत्त्व नहीं रहता। अतएव बौद्ध दृष्टिके अनुसार किसी एक अखण्ड व्यक्तिके आधार पर सूक्ष्म-स्थूल भौतिक सर्जन नहीं होते, किन्तु उस एकको लेकर दूसरा और दूसरेको लेकर तीसरा इस भाँति प्रतीत्यसमुत्पन्न रूपसे रूप-जगत्‌का परिवर्तन चला ही करता है। बौद्ध परम्परा ऐसे किसी उपादान तत्त्वकी कल्पना नहीं करती, जो कि कार्यके रूपमें परिणत हो अथवा जिसमें कार्योंका जन्म हो। वह तो इतना ही कहती है कि पूर्व क्षणमें कोई एक अवस्था है जिसके कारण उत्तर क्षणमें नई अवस्था पैदा होती है। इस तरह धर्मीके रूपमें एक या अनेक मौलिक तत्त्वोंका अस्वीकार करने पर भी वह बहुत्ववादी तो है ही। बौद्धसम्मत रूप-बहुत्व यह सन्ततिबहुत्व है। इसमें भी एक विशेषता यह है कि एक ही सन्ततिमें एक क्षणमें भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंद्वारा अनुभूयमान रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुण परस्पर अविभाज्य होने पर भी भिन्न हैं। अतः बौद्ध दृष्टिसे परमाणुका अर्थ इतना ही फलित होता है कि एकक्षणजीवी जो रूपधर्म या रसधर्म वे ही रूप, रस आदि अन्तिम भूत परमाणु। इस तरह बौद्ध परम्पराने धर्मीका निषेध करके मात्रक्षणिक धर्मोंको मान्य रखा। ऐसे धर्मोंकी अनन्त सन्ततियाँ ही भौतिक जगत् है। ऐसी सन्ततियाँ कभी पहलेपहल अस्तित्वमें आईं और कभी सर्वथा विनष्ट होंगी ऐसा न माननेके कारण वे अनादि-अनन्त मानी जाती हैं। इस तरह परिणामिनित्यता एवं कूटस्थनित्यताकी तार्किक समालोचनाके परिणामस्वरूप[1] बौद्ध परम्परामें

---

१. तत्त्वसंग्रहगत स्थिरभावपरीक्षा, कर्मफलसम्बन्धपरीक्षा, द्रव्यपरीक्षा, स्याद्वादपरीक्षा तथा त्रैकाल्यपरीक्षा।

सन्ततिनित्यतावाद अस्तित्वमें आया।

सामान्यतः ऐसा कहा जा सकता है कि सांख्य, न्याय-वैशेषिक और जैन परम्परामें तत्त्वविषयक जो मौलिक धारणाएँ प्रथम स्थापित हुईं उनमें आजतक कोई अन्तर नहीं पड़ा है, जबकि बौद्ध एवं औपनिषद परम्पराओंकी स्थिति कुछ भिन्न है। जिस तरह उपनिषदोंके आधार पर तत्त्वका विचार करनेवाले वेदान्तियोंमें एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न प्रतीत होनेवाली मान्यताएँ (जैसे कि परिणामवादी बोधायन और मायावादी शंकर आदिकी) अस्तित्वमें आई हैं, ठीक उसी तरह बौद्ध परम्परामें भी हुआ है। बुद्धके उपदेशका आधार लेनेवाली सर्वास्तिवादी परम्परा जो स्थापित करती है उसकी अपेक्षा उसी उपदेशके आधार पर सौत्रान्तिक परम्परा भिन्न ही स्थापित करती है। इतना ही नहीं, विज्ञानवादी और शून्यवादी उक्त दोनों परम्पराओंसे सर्वथा भिन्न मन्तव्य रखते हैं और इन दोनोंमें भी परस्पर मन्तव्यभेद है।

सर्वास्तिवादी और सौत्रान्तिक दोनों शाखाएँ किसी परिणामी या कूटस्थ नित्यधर्मीको न मानकर धर्मबहुत्व स्वीकार करतो हैं, परन्तु सर्वास्तिवादी सम्मत धर्म त्रैकालिक होनेसे एक तरहसे धर्मीस्वरूप बन जाता है। जो अनागत अवस्थामें था वही वर्तमान बनता है और पुनः वही वर्तमानता का परित्याग करके अतीतता धारण करता है। इस प्रकार सब धर्मोंका अस्तित्व मानने पर प्रत्येक धर्म त्रैकालिक होनेसे धर्मी जैसा बन जाता है और कालभेदसे उसका लक्षण एवं अवस्थाका स्वरूप उसके धर्म बन जाते हैं।

यह मान्यता दूसरे बौद्धोंको बुद्धके उपदेशसे विरुद्ध लगी। उन्होंने प्रत्येक धर्मका अस्तित्व मात्र वर्तमान कालमें सीमित किया। उन्होंने कहा कि जिसका अस्तित्व है वह तो वर्तमान ही है। भूत एवं

भविष्यका अस्तित्व हो ही कैसे सकता है ? अस्तित्वका अर्थ ऐसा है कि कुछ भी अर्थक्रिया करना। ऐसी क्रिया तो वर्तमान ही कर सकता है। इस प्रकार धर्मीके उच्छेदमेंसे धर्मकी स्थापना और धर्मके त्रैकालिकत्वमेंसे उसकी मात्र वर्तमानता बौद्ध परम्परामें स्थापित हुई।

जब सर्वास्तिवादियोंने धर्मोंका त्रैकालिकत्व स्थापित किया उस समय, ऐसा प्रतीत होता है, उन पर सांख्य अथवा दूसरे परिणामवादियोंका असर हो[1]। परन्तु मात्र वर्तमान धर्मको माननेवाला सौत्रान्तिक कार्य-कारणभावकी मालाकी किस तरह व्यवस्था करता है यह भी एक ध्यान देने जैसा महत्त्वका मुद्दा है। वह कहता है कि पूर्वक्षणमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदिका जो अविभाज्य समुदाय होता है वह उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है। उसके उत्पाद एवं नाशके बीच कोई स्थिति-क्षण नहीं होता। अतः पूर्व क्षण किसी नाशक कारणके बिना ही स्वतः विनश्वर है, और उसका विनाश अर्थात् दूसरे नये क्षणका उत्पाद। यही है आनन्तर्यका नियम। इन दोनों क्षणों के बीच कालकृत कोई अन्तर नहीं है। ये दोनों अविच्छिन्न कहे जा सकते हैं। इसी तरह चलनेवाली क्षणों की धारा ही क्षणसन्तति है। जो रूप, रस आदि धर्म इन्द्रियगम्य होते हैं वे तत्कालीन दृश्य-सन्ततियाँ हैं, परन्तु वैसी अदृश्य सन्ततियाँ भी होती हैं।

---

१. इसके लिए देखो तत्त्वसंग्रहपंजिका (पृ० ५०४) में धर्मत्रात आदि चार आचार्योंके पक्ष।

तुलना करो—सभाष्य योगसूत्रके विभूतिपादके सूत्र १३–४।

देखो—History of Philosophy—Eastern and Western Vol. I, Buddhist Philosophy (IX)-B, Historical Introduction to the Indian Schools of Buddhism by Vidhushekhara Bhattāçārya, p. 173.

इस प्रकार काल और देशके भिन्न-भिन्न अंशोंमें विभक्त जगत्को माननेवाले बौद्ध एकत्वबुद्धि या प्रत्यभिज्ञाका समर्थन कैसे करते होंगे, यह भी प्रश्न है। बौद्ध कहते हैं कि जिस तरह न्याय-वैशेषिक और जैन मतके अनुसार प्रत्येक परमाणु द्रव्य रूपसे परस्पर अत्यन्त भिन्न है और फिर भी वे नये अवयवी द्रव्यकी या संघातकी स्थिरता मानकर उसमें एकत्वबुद्धि करते हैं, उस तरह हम वैसा कोई दीर्घकालीन अवयवी या संघात द्रव्य नहीं मानते, जो प्रत्यभिज्ञाका विषय बने। परन्तु जहाँ तक द्रष्टाको सादृश्यका भान होता है वहाँ तक वह सन्ततिके उतने भागमें भ्रमसे एकत्वबुद्धि करता है। जिन्हें सर्वथा अन्तःप्रज्ञा उदित हुई हो ऐसे तथागत आदि प्रत्येक धर्मको परस्पर भिन्न ही देखते हैं। परन्तु ऐसा पारमार्थिक भेद चर्मचक्षुका विषय नहीं है, अतः साधारण लोग सादृश्य अथवा भ्रान्त अभेद-बुद्धिसे सारा व्यवहार करते हैं।[1]

अन्तमें जगत्के स्वरूपके बारेमें दो महत्त्वकी विचारधाराओंका उल्लेख भी करना चाहिए। पहली बौद्ध परम्परामेंसे उदित हुई है, तो दूसरी औपनिषद परम्परामेंसे। दोनों विचारधाराओंके मूलमें तत्त्वभेद है, निरूपणभेद भी है, फिर भी भिन्न-भिन्न शब्दोंमें वे दोनों प्रायः एक ही सिद्धान्तका प्रतिपादन करती हैं। महायानी विचारधारा दृश्यमान भेदमय रूपादि प्रपंचका अविद्याकल्पित अथवा संवृतिसत्य कहकर निरूपण करती है। इस निरूपणमें विज्ञानवादी और शून्यवादी दोनोंका सामान्यतः समावेश हो जाता है, जबकि केवलाद्वैती शंकर जगत्को मायिक कहकर उसका निरूपण करते हैं। महायानी विचारधारा जगत्को जब अविद्यामूलक सांवृत कहती है तब उसका भाव यही है कि यह दृश्यमान स्थूल, सूक्ष्म एवं भेदप्रधान बाह्य विश्व वास्तविक

---

१. तत्त्वसंग्रहकी स्थिरभावपरीक्षा, का ३५०–४७५ तथा हेतुबिन्दुटीका पृ० १४१ से।

नहीं है, पर केवल अविद्या या अज्ञानकी वासनासे वैसा भासित होता है। शंकरकी दृष्टिसे भी दृश्यमान नाम-रूपात्मक जगत् वास्तविक नहीं है, पर मायाके परिणाम रूपसे मात्र अधिष्ठानमें भासित होता है।

हमने पहले देखा कि सांख्याचार्योंने सुख-दुःख-मोहात्मकताके सार्वत्रिक अनुभवके आधार पर उसके अन्तिम कारणके रूपमें एकमात्र त्रिगुणात्मक सर्वव्यापी प्रधानतत्त्वकी स्थापना करके उसमेंसे वैश्वरूप्य घटाया था, तो जैन, न्याय-वैशेषिक और स्थविरवादी बौद्धोंने इन्द्रियग्राह्य रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श आदि गुणोंको वास्तविक मानकर उसके आधार पर उनकी कारणपरम्पराका विचार किया और अन्तमें अन्तिम कारणके तौर पर किसीने परिणामिनित्य अनन्तानन्त निरंश परमाणु-द्रव्य माने, किसीने कूटस्थनित्य और निरंश अनन्त परमाणु-द्रव्य माने तो दूसरेने वैसे कोई स्थिर परमाणु-द्रव्य न मानकर मात्र अस्थिर एवं क्षणिक धर्मोंको ही माना; और सबने अपने माने हुए मूल तत्त्वोंमेंसे अपने-अपने ढंगसे दृश्यमान सूक्ष्म-स्थूल कार्यप्रपंचका वास्तविक रूपमें स्पष्टीकरण किया। अर्थात् यह प्रपंच, मन और इन्द्रिय द्वारा जिस रूपमें अनुभूत होता है उस रूपमें भले ही परिवर्तनशील हो, तो भी वह मूल कारणमेंसे यथार्थ रूपमें निष्पन्न होनेकी वजहसे वास्तविक है। जिसका अज्ञान सर्वथा निवृत्त हुआ हो उसकी दृष्टिसे भी दृश्यमान विश्वप्रपंच वैसा ही है। द्रष्टा ज्ञानी हो या अज्ञानी, उससे कुछ विश्वके स्वरूपमें फ़र्क नहीं पड़ता। यह वास्तववादी विचारधारा हुई।

जगत्के विषयमें महायानी और केवलाद्वैतीकी तुलना

परन्तु महायानी और शांकर विचारधारा भिन्न ही कसौटीके आधार पर प्रवृत्त या समर्थित हुई हों, ऐसा मालूम पड़ता है। वे ऐसा मानते रहे हैं कि इन्द्रियके आधार पर जगत्का स्वरूप और उसका मूल कारण

यथावत् जाना नहीं जा सकता। इन्द्रियाँ बहुत ही अपूर्ण और दूषित साधन हैं। वे केवल वर्तमान और सन्निकृष्ट वस्तुसे आगे जाती ही नहीं। इतना ही नहीं, एक ही वस्तुके जो रूप, रस, आदि गुण होते हैं वे भिन्न-भिन्न प्राणिवर्गकी इन्द्रियों द्वारा सर्वथा भिन्न-भिन्न रूपमें भी गृहीत होते हैं। मात्र मानववर्गकी बात करें, तो भी प्रत्येककी इन्द्रियशक्ति एक-सी नहीं होती और वे शक्तियाँ भी एक-सा कार्य नहीं करतीं। अतएव जगत्के स्वरूप और उसके मूल कारणका निश्चय करनेमें इन्द्रियज्ञान सफल रूपसे कार्यसाधक नहीं हो सकता। बाह्य इन्द्रियोंकी अपेक्षा मन भले ही विशेष शक्तिशाली हो, फिर भी उसे होनेवाले सुख-दुःख-मोहात्मकताके अनुभवके आधार पर भी जगतका स्वरूप और उसका मूल कारण यथावत् नहीं जाना जा सकता। एक ही वस्तु समसमयमें भिन्न-भिन्न मनोंको भिन्न-भिन्न रूपसे अनुभूत होती है और एक ही मनको भी कालभेदसे एक ही वस्तुके बारेमें एक-सा अनुभव नहीं होता। इसके अतिरिक्त, जब मन निरुद्ध-दशामें या विवेक दशामें होता है तब वह, भोग्य पदार्थ और भोगसाधन के पूर्ववत् एकरूप होने पर भी, सुख, दुःख या मोहात्मकताका अनुभव नहीं करता।[१] यदि भोग्य, भोगसाधन और भोक्ता मन—ये तीनों स्वाभाविक रूपसे सुख-दुःख-मोहात्मक हों, तो मन किसीभी दशामें वैसे अनुभवसे मुक्त रह नहीं सकता। इससे स्थूल जगत्के स्वरूप तथा उसके कारणके स्वरूपके विषयमें कोई दूसरी ही कसौटी स्वीकार करनी चाहिए जो कि बाह्य इन्द्रियों और मनके अनुभव पर आधार न रखती हो।

---

१. देखो तत्त्वसंग्रह का. ३६ से। इसके अतिरिक्त देखो—न्यायावतारवार्तिक-वृत्तिके टिप्पण (हितोऽपि) पृ. १३५ एवं १५५ तथा अणुभाष्यमें 'तत्तु समन्वयात्' (१. १. ३.) सूत्र और भाष्य की गोस्वामी पुरुषोत्तमदासजीकी प्रकाश टीका।

वैसी किसी कसौटीकी शोधमेंसे महायानी और केवलाद्वैती विचारधारा प्रवृत्त हुई हो ऐसा प्रतीत होता है।

वह कसौटी अर्थात् योगज्ञान। जो ज्ञान वासना, संक्लेश अथवा अविद्यासे सर्वथा विमुक्त चित्तमें आविर्भूत हो वह योगज्ञान। ऐसा ज्ञान समग्र भावोंका यथावत् साक्षात्कार कर सकता है। अतएव इस ज्ञानके आधार पर ही जगत्के स्वरूपका निर्णय हो सकता है। इस मान्यताके आधार पर महायानी परम्परा जगत्के स्वरूपके विषयमें एक निर्णय पर पहुँची, तो केवलाद्वैती परम्परा कुछ भिन्न निर्णय पर पहुँची। महायानी परम्पराने कहा कि जो इन्द्रियग्राह्य या मनोग्राह्य भाव बाह्य रूपसे भासित होते हैं उनकी बाह्यता मात्र अविद्याके कारण ही है। वस्तुतः यदि अविद्या न हो तो रूप आदि अथवा सुख-दुःख आदि जैसे दृश्यमान जगत्का अस्तित्व ही न रहे। अतः वैसा जगत् मिथ्या या सांवृत है। केवलाद्वैती परम्पराने स्थापित किया कि दृश्यमान नाम-रूपात्मक प्रपंचभेद माया अथवा अविद्याका कार्य होनेसे वास्तविक रूपमें तो उसका अस्तित्व ही नहीं है, वह तो मात्र मायिक है। दोनों एक ही प्रकारके उदाहरणोंसे अपने-अपने मन्तव्य स्थापित करते हैं। जैसे—स्वप्नमें किसीको हाथी दिखाई पड़ा और वह भी खिड़कीके एक छोटे-से छेदमेंसे आया।[1] उसके कारण वह पुरुष भयभीत हुआ और कमरेमेंसे बाहर निकल गया। यह स्वप्नगत वस्तु जिस तरह अभूतपरिकल्प या परिकल्पित है, उसी तरह जाग्रत्कालीन सम्पूर्ण बाह्य विश्व असत्कल्प और परिकल्पित

1. "This would mean that when I see in a dream an elephant entering my room through a chink in a window, that the elephant has really entered the room; and when I in a dream see my own self quitting the room in which I sleep, it will mean that my person has been doubled."

—Buddhist Logic, Vol. I, p 525.

है। महायानीके इन दृष्टान्तोंके जैसे ही केवलाद्वैतीके भी दृष्टान्त हैं। वे भी कहते हैं कि ऐन्द्रजालिक जो जो रूप दिखाता है या मरुमरीचिका में जैसे जल दिख पड़ता है, वैसा ही यह विश्व मायिक है। इस तरह दोनों परम्पराएँ भिन्न-भिन्न शब्दोंमें भी बाह्य जगत्को अवास्तविक मानकर अपनी-अपनी तात्त्विक मान्यताकी स्थापना करती हैं।

महायानी परम्पराने वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक द्वारा कल्पित अनेक बाह्य-आभ्यन्तर क्षणिक धर्मातमक वास्तविक जगत्का इनकार करके उसे सांवृत अथवा काल्पनिक माना और अपनी मान्यताका आधार बुद्धवचनमें से फलित किया, तो केवलाद्वैती मायावादी परम्पराने अपनी मान्यताका आधार उपनिषदोंमेंसे फलित किया। दोनों अपने-अपने आधारभूत वचन या शास्त्रोंको योगज्ञानमूलक ही मानकर उसके समर्थनमें अपनी-अपनी तर्क-परम्परा उपस्थित करते हैं। महायानी बाह्य जगत्को असत्कल्प या परिकल्पित मानने पर भी उसमें प्रवर्तमान समग्र भेदमूलक जीवनव्यवहार, वैभाषिक द्वारा स्वीकृत धातु, स्कन्ध, आयतन, धर्म आदि कल्पनाओंके आधार पर,

---

स्वाप्निक हस्तीके स्थानमें वसुबन्धुने मायाहस्ती उदाहरण इस प्रकार दिया है—

मायाकृतं मन्त्रवशात्ख्याति हस्त्यात्मना यथा।
आकारमात्रं तत्रास्ति हस्ती नास्ति तु सर्वथा॥
स्वभावः कल्पितो हस्ती परतन्त्रस्तदाकृतिः।
यस्तत्र हस्त्यभावोऽसौ परिनिष्पन्न इष्यते॥
असत्कल्पस्तथा ख्याति मूलचित्ताद् द्वयात्मना।
द्वयमत्यन्ततो नास्ति तत्रास्त्याकृतिमात्रकम्॥
मन्त्रवन्मूलविज्ञानं काष्ठवत्तथता मता।
हस्त्याकारवदेष्टव्यो विकल्पो हस्तिवद् द्वयम्॥

त्रिस्वभावनिर्देश का. २७–३०

और इसकी तुलना भी देखो पृ० ४२।

घटाता है[1]; जबकि मायावादी केवलाद्वैती विश्वप्रपंचको मिथ्या माननेपर भी उसमें चलनेवाले प्राणियोंके समग्र जीवनव्यवहारको सांख्यसम्मत प्रकृतिवादका आश्रय लेकर और प्रायः उस वादकी परिभाषामें ही घटाता है।[2] इस प्रकार जगत्‌की व्यावहारिक व्यवस्थामें एकका आधार वैभाषिकदर्शन है, तो दूसरेका आधार सांख्यदर्शन है।

---

१. तदेवं हेतुप्रत्ययापेक्षं भावानामुत्पादं परिदीपयता भगवता अहेत्वेकहेतु-विषमहेतुसम्भूतत्वं स्वपरोभयकृतत्वं च भावानां निषिद्धं भवति। तन्निषेधाच्च सांवृतानां पदार्थानां यथावस्थितं सांवृतं स्वरूपमुद्भावितं भवति।

—मध्यमकवृत्ति पृ० १०

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥

—मध्यमककारिका २४-८

यदि तर्हि परमार्थो निष्प्रपंचस्वभावः, स एवाऽस्तु। तत्किमनयाऽपरया स्कन्धधात्वायतनार्यसत्यप्रतीतिसमुत्पादादिदेशनया प्रयोजनमपरमार्थया। अतत्त्वं हि परित्याज्यम्। यच्च परित्याज्यं किं तेनोपदिष्टेन। उच्यते। सत्यमेतदेव। 'किन्तु लौकिकं व्यवहारमनभ्युपगम्याभिधानाभिधेयज्ञानज्ञेयादिलक्षणमशक्य एव परमार्थो देशयितुम्।

—मध्यमकवृत्ति पृ० ४९४

विग्रहव्यावर्तिनीमें नागार्जुनने शून्यताका स्थापन करते समय कुशल-अकुशल आदि धर्मोंके स्वभावका निषेध करके उनका प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व मात्र स्थापित किया है। देखो विग्रहव्यावर्तिनी का. ७, ५३ आदि।

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगच्छति॥

—मध्यमककारिका २४.१०

संवृति और परमार्थसत्यके विषयमें विशेष जानकारीके लिए देखो 'अभिधर्मदीप' का. ३०४ (पृ० २६२) टिप्पणोंके साथ। उसमें वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक इन सबकी दृष्टिसे संवृतिसत्य और परमार्थसत्य दोनोंका निरूपण अनेक ग्रन्थोंके आधार पर संकलित किया गया है।

२. उदाहरणार्थ, पंचीकरण (पंचदशी) और त्रिवृत्करणप्रक्रिया तथा छान्दोग्योपनिषद् ६.३. २-४।

उपसंहार

अचेतन जगत्के स्वरूपके बारेमें ऊपर जिन भिन्न-भिन्न मतोंका संक्षेपमें उल्लेख किया है उनका संक्षिप्त सार यही है कि जो मूल कारण बहुत्ववादी हैं वे मूल कारणोंका व्यक्तित्व कायम रखकर अपने-अपने ढंगसे उसमेंसे कार्य-सृष्टि घटाते हैं और उस कार्यसृष्टिको मूल कारणके जितनी ही वास्तविक मानते हैं। अलबत्ता, उन मूलकारणबहुत्ववादियोंमें आपसमें मूल कारणके स्वरूप और उसमेंसे निष्पन्न सृष्टिके कार्यकारणभावकी प्रक्रियाके बारेमें बड़ा मतभेद है ही। जो एकमूलकारणवादी हैं वे तो एकमेंसे ही नानाविध वास्तविक सृष्टिकी उपपत्ति परिणाम शक्ति तथा क्रमशक्तिको मानकर करते हैं। उनके मतके अनुसार समग्र कार्य-प्रपंचमें मूल कारण ओतप्रोत है और मूल कारणमें बीज रूपसे व्यक्त प्रपंचका अस्तित्व है। अतएव वे भी जगत्के बारेमें वास्तववादी हैं। इससे उल्टा, जो अनेकमूलतत्त्ववादी या एकमूलतत्त्ववादी होने पर भी जगत्को उस मूल तत्वके रूपमें नहीं, किन्तु अविद्याकल्पित अथवा मायिक मानते हैं वे अवास्तववादीकी कोटिमें आते हैं।

व्याख्यान ४

जीव : चेतनतत्त्व

हमने संक्षेपमें यह देखा कि अचेतन-विश्वके विषयमें तत्त्वचिन्तकों ने किस किस तरह विचार करके अपने-अपने सिद्धान्त स्थापित किये हैं। अब जीव या चेतन-विश्वके बारेमें हमें यह देखना है कि तत्त्वचिन्तन इस विषयमें किस क्रमसे आगे बढ़ा है और उत्तरोत्तर विकास करते-करते उसे बीचमें कित-कितने पड़ाव करने पड़े हैं तथा उनका किस-किस रूपमें उल्लेख मिलता है ?

जीव या चैतन्यके विषयमें सर्वप्रथम भूतचैतन्यवादका स्थान आता है। इसके बाद स्वतंत्र जीववादका स्थान है। इसके पश्चात् स्वतन्त्र और फिर भी एक तरहसे पराश्रित जीववाद आता है। इस मान्यताकी प्रत्येक भूमिकामें भी परस्पर विरुद्ध अनेक मत स्थापित हुए हैं। यहाँ इन सबके बारेमें संक्षिप्त दिग्दर्शन करानेका प्रयत्न किया जायगा।

भूतचैतन्यवादी चार्वाक

जहाँ तक जीव या चैतन्यकी चर्चाका सम्बन्ध है वहाँ तक सबसे प्राचीन विचारस्तर भूतचैतन्यवादका मिलता है। उपनिषदोंमें, जैन आगमोंमें और बौद्ध पिटकोंमें इसका निर्देश पूर्वपक्षके रूपमें मिलता है। श्वेताश्वतरमें विश्वके मूलकारणकी पृच्छा करते समय भूतोंका एक कारणके रूपमें निर्देश है[1]। इस निर्देशसे भी बृहदारण्यक का उल्लेख प्राचीन गिना जा सकता है। उसमें भी विज्ञानघन चैतन्यका भूतोंमेंसे उत्थित होकर उसीमें विलीन होनेका निर्देश है और साथ ही साथ 'न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति'

१. श्वेताश्वतरोपनिषद् १. २.।

ऐसा भी उसमें आता है[1]। केवल जैन ग्रन्थोंमें ही यह उल्लेख भूतचैतन्यवादपरक नहीं माना गया[2], जयन्त जैसे प्रबल नैयायिकने भी इसका चार्वाकके मतके रूपमें निर्देश किया है।[3] जैन आगमोंमें पाँच भूतमेंसे जीव पैदा होता है ऐसा उल्लेख आता है।[4] इसी प्रकार बौद्ध पिटकमें अजितकेसकम्बलीके-मतका वर्णन आता है, जो चार भूतोंमेंसे पुरुष उत्पन्न होता है ऐसा मानता था।[5] इन उल्लेखों परसे एक बात फलित होती है कि किसी समय चैतन्य या जीवको मात्र भूतोंका परिणाम या कार्य मानकर उसके आधार पर जीवनव्यवहार चलानेवालोंका प्राबल्य था। शायद उस समयके लोगोंमें इस विचारकी छाप गहरी होगी। इसीसे आगे जाकर इस मतको 'लोकायत' कहकर एक तरहसे इसकी निन्दा की गई है।

जिस तरह चार या पाँच भूतोंके संघातसे प्रकट होनेवाले चैतन्यको ही माननेवाले भूतचैतन्यवादीके मतका उल्लेख मिलता है, उसी तरह एक उसके जैसा पर उससे कुछ भिन्न दिखाई देनेवाला 'तज्जीव-तच्छरीरवाद' भी प्राचीन कालमें प्रचलित था, जिसका उल्लेख भी सुरक्षित रहा है। इसका वर्णन शब्दशः उपनिषदोंमें नहीं है, जबकि जैन आगम[6] और बौद्ध पिटकोंमें[7] वह शब्दशः है। यह वर्णन

१. बृहदारण्यकोपनिषद् २. ४. १२

२. विशेषावश्यकभाष्य गा. १५५३।

३. न्यायमंजरी (विजयनगरम् सिरीज़) पृ. ४७२।

४. सूत्रकृतांग १.१.१७-८।

५. दीघनिकायगत सामञ्ञफलसुत्त।

६. सूत्रकृतांगके द्वितीय श्रुतस्कन्धके पोण्डरिय अध्ययनके नवें सूत्रमें 'इति पढ़मे पुरिसजाए तज्जीवतच्छरीरए त्ति आहिए' ऐसा कहा है और दसवें सूत्रके अन्तमें 'दोच्चे पुरिसजाए पंचमहब्भूइए त्ति आहिए' ऐसा कहा है। इसके अतिरिक्त देखो सूत्रकृतांगमें निर्युक्ति गा. ३० तथा गणधरवाद (गुजरात विद्यासभा प्रकाशन) में तीसरे गणधर वायुभूतिकी शंका पृ. ५०।

७. देखो मज्झिमनिकायगत चूलमालुंक्यसुत्तमें बुद्धके अव्याकृत प्रश्न।

भूतवादियोंसे भिन्न ही है। चार अथवा पाँच भूतोंका अर्थ बहुत प्रसिद्ध है और आगे चलकर दार्शनिक ग्रन्थोंमें जहाँ-जहाँ चार्वाक मतका खण्डन आया है वहाँ सर्वत्र इस मान्यताके समर्थक किसी प्राचीन सूत्रका भी निर्देश मिलता है।[1]

अब प्रश्न यह है कि भूतचैतन्यवादीसे भिन्न निर्दिष्ट तज्जीव-तच्छरीरवादका अर्थ क्या है? भूतचैतन्यवादसे यदि वह किसी भी अर्थमें भिन्न न होता तो इतने प्राचीनकालमें वे दोनों मत भिन्न क्यों निर्दिष्ट हुए? सामान्यतः तो तज्जीव-तच्छरीरवादका अर्थ यही है कि जीव और शरीर ये दोनों अभिन्न हैं। बुद्धने अपने अव्याकृत प्रश्न गिनाते समय उसमें तज्जीव-तच्छरीरवादका भी उल्लेख किया है और कहा है कि 'जीव और शरीर भिन्न हैं' यह जैसा एक अन्त है वैसा ही 'ये दोनों अभिन्न हैं' यह भी एक अन्त होने से अव्याकृत है। इस परसे तो ऐसा लगता है कि जीव और शरीरको अभिन्न माननेका मतलब ही है भूतसमुदायरूप शरीरको ही जीव मानना। और यह तो भूतचैतन्यवाद हुआ।

सूत्रकृतांगके पुण्डरीक अध्ययनमें तज्जीव-तच्छरीरवादीका मत स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार कोई मनुष्य म्यानमेंसे तलवार अलग करके दिखाता है, या हथेलीमें आँवला जुदा दिखाता है, अथवा दहीमेंसे मक्खन और तिलमेंसे तेल निकालकर अलग दिखाता है, उस

---

१. 'पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि।' 'तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा।'

—तत्त्वोपप्लवसिंह पृ० १

तेभ्यश्चैतन्यमिति। तत्र केचिद्वृत्तिकारा व्याचक्षते—उत्पद्यते तेभ्यश्चैतन्यम्। अन्येऽभिव्यज्यत इत्याहुः।

—तत्त्वसंग्रहपंजिका पृ० २०५

प्रकार जीव और शरीरको सर्वथा भिन्न माननेवाले शरीरसे जीवको जुदा करके दिखा नहीं सकते। अतः जो शरीर है वही जीव है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भूतचैतन्यवादकी ये दोनों मान्यताएँ आगेके दार्शनिक ग्रन्थोंमें सुरक्षित रही हैं। इसीसे 'पृथिव्यापस्तेजो-वायुरिति तत्त्वानि' इस सूत्रमें चार भूतोंका निर्देश करके 'तेभ्यश्चैतन्यम्' इस सूत्र द्वारा चातुर्भौतिक चैतन्यकी उत्पत्तिका वाद मिलता है। इसी प्रकार तत्त्वसंग्रहमें कम्बलाश्वतरके मतके रूपमें 'कायादेव चैतन्यम्' इस सूत्रका उल्लेख है। सम्भव है कि इस कम्बलाश्वतरका मत ही तज्जीव-तच्छरीरवादका रूप हो। दीघनिकायमें अजितकेसकम्बली नामक भूत-वादीका निर्देश है, जब कि तत्त्वसंग्रहमें कम्बलाश्वतर नाम आता है। ध्यान देने जैसी बात तो यह है कि दोनों नामोंमें 'कम्बल' पद आता है। शायद ऐसा भी हो सकता है कि इस पंथके अनुयायियोंका सम्बन्ध किसी भी प्रकारके कम्बलके साथ हो। आज भी कमलीवालोंके अनेक पन्थ इस देशमें काफी प्रसिद्ध हैं। चाहे जो हो, इतना तो सच है कि स्वतन्त्र चैतन्यवादकी प्रतिष्ठाके पहलेकी यह मान्यता होनी चाहिए।

स्वतन्त्र चैतन्यवादकी ओर प्रस्थान

परन्तु इस मान्यताके विरुद्ध पुनर्जन्म, परलोक और स्वतन्त्र जीव-वादका विचार बहुत जोर पकड़ता जा रहा था। इसका प्रारम्भ किसने, कब और कहाँ किया यह तो अज्ञात है, पर इतना तो निश्चित है कि इस वादके पुरस्कर्ताओंके अनेक समुदाय थे और वे अपने-अपने ढंगसे इस वादकी विचारणा करते थे।

किया गया कर्म व्यर्थ नहीं जाता और जो कर्म करता है वही उसका फल भोगता है—इस विचारमेंसे जन्मान्तर और परलोकवाद

अस्तित्वमें आया। इस वादने शनैः शनैः किन्तु सरलतासे भूतचैतन्यवाद पर प्रहार किया। उसकी प्रतिष्ठा कम होती गई। परन्तु परलोकवादियोंको यह विचार तो करना ही था कि देहनाशके बाद जो स्वतन्त्र जीव जन्मान्तर धारण करता है या परलोकमें जाता है उसका स्वरूप क्या है? वह एक देह छोड़कर देहान्तर धारण करनेके लिए किस तरह जाता होगा? इन तथा ऐसे प्रश्नोंका विचार चलता ही था। और साथ ही साथ यह भी विचार चलता था कि वर्तमान जीवनकी अपेक्षा अधिक सुखी पारलौकिक जीवन किस तरह और किन साधनोंसे पाया जा सकता है? ऐसे विचारोंने एक ओर तो लोगोंकी जीवनदृष्टि बदली, तो दूसरी ओर अनेक मत-मतान्तर भी अस्तित्वमें आते गये।

जो परम्परा जिस प्रकारके आचार या सामाजिक व्यवस्था मानती होगी उस परम्पराने उन्हीं आचारों और उसी व्यवस्थामें परलोकलक्षी जीवनदृष्टि दाखिल की और परलोकलक्षी धर्मोंकी प्रतिष्ठा विशेष स्थिर होती गई। वर्तमान जन्ममेंसे जन्मान्तर किस तरह प्राप्त होता है इसका विचार जो लोग करते थे, उन्होंने भी अपनी-अपनी कल्पनाएँ करके जन्मान्तरगमनकी व्यवस्था स्थिर की। इस तरह स्वतंत्र जीवके स्वरूपके बारेमें अनेक प्रकारकी विचारणाएँ अस्तित्वमें आईं तथा स्थिर बनीं।

इस विचारणाके भिन्न-भिन्न परिणाम भिन्न भिन्न परम्पराओंमें सुरक्षित रहे हैं और उत्तरकालीन दार्शनिक साहित्यमें वे चर्चा-प्रतिचर्चाके केन्द्र भी बने हैं। परन्तु प्रत्येक धार्मिक एवं विचारकने इतना तो स्वीकार कर ही लिया है कि स्वतंत्र चेतन जैसा कोई तत्त्व है और वह कभी विनष्ट नहीं होता। वही कृतकर्मका फल भोगता है और संकल्पके अनुसार उत्थान भी कर सकता है।

जीवके स्वरूपके विषयमें जैन दृष्टि

स्वतंत्र जीववादोंमें प्रथम स्थान जैन परम्पराका आता है। वह दो दृष्टियोंसे : एक तो इस परम्पराकी जीव-विषयक कल्पना ऐसी है कि जो दूसरी विकसित कल्पनाओंकी अपेक्षा प्राथमिक और सर्वसाधारणको बुद्धिग्राह्य लगती है। दूसरी यह कि ई० पू० आठवीं शतीमें होनेवाले भगवान् पार्श्वनाथकी निर्वाणसाधनाके आधारके रूपमें वह जीववादकी कल्पना सुस्थिर हो गई थी। जैन परम्परामें जीव या आत्मवादकी जो मान्यता पहले थी उसमें अबतक कोई ख़ास मौलिक फेरफार हुआ ही नहीं है, जैसाकि बौद्ध एवं वैदिक परम्पराओंमें हुआ है। उसमें पहलेसे लेकर आजतकके जो जीवस्वरूप-विषयक मन्तव्य सुरक्षित रहे हैं वे एक ही प्रकारके हैं। उनके मुख्य मुद्दे इस प्रकार हैं—

१. जीव है और वह स्वाभाविक चेतनामय है। वह स्वतंत्र है और इसीलिए वह अनादि-निधन है।[1]

२. जीव नाना और अनन्त हैं तथा देहभेदसे भिन्न हैं।

३. जीवकी अनेक शक्तियोंमेंसे मुख्य और सबको संविदित हो सके ऐसी शक्तियाँ हैं—ज्ञानशक्ति, पुरुषार्थ या वीर्यशक्ति और श्रद्धा या संकल्पशक्ति। ये शक्तियाँ उसका अभिन्न स्वरूप हैं।[2]

४. जीव जैसा-जैसा विचार या व्यवहार करता है वैसा संस्कार उसमें पड़ता है और उस संस्कारकी छाप धारण करनेवाला एक सूक्ष्म

---

१. नित्यावस्थितान्यरूपाणि। — तत्त्वार्थसूत्र ५. ३

२. नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं ॥
— उत्तराध्ययनसूत्र २८.११

पौद्‌गलिक शरीर उसके साथ निर्मित होता है जो देहान्तर धारण करते समय उसके साथ ही रहता है[१]।

५. स्वतंत्ररूपसे चेतन और अमूर्त स्वरूप होने पर भी अपने द्वारा संचित मूर्त शरीरके योगसे जीव, वैसे शरीरका अस्तित्व रहे तबतक, मूर्त जैसा बन जाता है[२]।

६. शरीरानुसार उसका परिमाण घटता है या बढ़ता है। परिमाणकी हानि-वृद्धि उसके मौलिक द्रव्य-तत्त्व पर असर नहीं करती। उसका मौलिक द्रव्य या संगठन जैसा होता है वैसा ही रहता है। केवल परिमाण ही निमित्तके भेदसे बढ़ता है या घटता है। यह एक तरहका परिणामवाद और वह भी परिणामिनित्यवाद हुआ। इसका दूसरा प्रकार है जीवके गुण या शक्तियोंके विकासकी हानि-वृद्धि। मौलिक शक्तियाँ या सहज गुण अपने मूल रूपमें रहने पर भी पुरुषार्थके परिणाम स्वरूप उनमें शुद्धि-अशुद्धिकी मात्रा कमोबेश होती है। यह शक्तिकी परिणामिनित्यता हुई[३]।

७. समग्र जीवराशिमें सहज योग्यता एक-सी मानी गई है, फिर भी प्रत्येकका विकास एक-जैसा नहीं होता। वह उसके पुरुषार्थ एवं अन्य निमित्तों के बलाबल पर अवलम्बित है।

८. विश्वमें ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ सूक्ष्म या स्थूल शरीरी जीवोंका अस्तित्व न हो।

जीवके विषयमें जैन दृष्टिके साथ सांख्य-योगकी तुलना

ऊपर जो जीवतत्त्वके बारेमें जैन परम्परासम्मत मान्यता दी है

---

१. देखो 'विग्रहगतौ कर्मयोगः' (२.२६) आदि तत्त्वार्थसूत्रके सूत्र।

२. देखो 'गणधरवाद' (गु.) गा. १६३८।

३. देखो तत्त्वार्थ ५.१५-६ तथा उसकी विविध टीकाएँ।

उसकी सांख्य-योग परम्परासम्मत पुरुष, जीव या चेतन तत्त्वके साथ तुलना ख़ास ध्यान खींचती है।

(१) जैन परम्परा जीवमात्रको सहज और अनादिनिधन चेतनरूप मानती है। सांख्य-योग परम्परा भी पुरुष तत्त्वको वैसा ही मानती है[१]।

(२) जैन परम्परा देहभेदसे जीवको भिन्न मानकर अनन्त जीवोंका अस्तित्व स्वीकार करती है। यही बात सांख्य-योग परम्परा भी मानती है[२]।

(३) जैन परम्परा जीवतत्त्वको देहपरिमित मानकर संकोच-विस्तार-शील और इसीलिए द्रव्य दृष्टिसे परिणामिनित्य मानती है, तो सांख्य-योग परम्परा चेतनतत्त्वको कूटस्थनित्य एवं व्यापक मानती है, अर्थात् वह चेतनमें कोई संकोच-विस्तार या द्रव्यदृष्टिसे परिणामित्व स्वीकार नहीं करती।

(४) जैन परम्परा जीवतत्त्वमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व वास्तविक मानती है और इसीलिए वह उसमें शुद्धि-अशुद्धिके रूपमें गुणोंकी हानि-वृद्धि या परिणाम स्वीकार करती है, जबकि सांख्य-योग परम्परा वैसा कुछ मानती ही नहीं। वह चेतनमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व तथा गुणगुणिभाव या धर्मधर्मिभावका स्वीकार न करनेके कारण किसी भी प्रकारके गुण या धर्मका सम्भव अथवा परिणाम स्वीकार नहीं करती[३]।

इस तरहका चित्तका संकोच-विस्तार और शरीर परिमाणत्व सांख्य परम्परामें भी माना जाता है। जैसे कि, घटप्रासादप्रदीपकल्पं संकोचविकासि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे—योगभाष्य ४ १।

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च।

— तत्त्वार्थसूत्र २.१

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।

— तत्त्वार्थसूत्र १०. १-३

१. सांख्यकारिका १०-१, १७

२. सांख्यकारिका १८।

३. सांख्यकारिका १९, २०।

(५) जैन परम्परा शुभाशुभ विचार या अध्यवसायके परिणामस्वरूप पड़नेवाले संस्कारोंका धारक जीवतत्त्व स्वीकार करके उसके कारण उसके आसपास निर्मित होनेवाला एक पौद्गलिक सूक्ष्म शरीर स्वीकार करती है। वही एक जन्मसे जन्मान्तरमें जीवतत्त्वका वाहक या माध्यम बनता है। सांख्य-योग परम्परामें स्वयं चेतन अपरिणामी, अलिप्त, कर्तृत्व-भोक्तृत्व-रहित तथा व्यापक माने जाने पर भी उसका पुनर्जन्म घटानेके लिए प्रतिपुरुष एक-एक सूक्ष्म शरीरकी कल्पना की गई है। वह सूक्ष्म शरीर स्वयं ही जैनसम्मत जीवकी भाँति कर्ता-भोक्ता है, ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म आदि गुणोंका आश्रय और उनकी हानि-वृद्धिरूप परिणामवाला है। इतना ही नहीं, वह जैनसम्मत जीवतत्त्वकी भाँति देहपरिमाण और संकोच-विस्तारशील भी है। संक्षेपमें ऐसा कहा जा सकता है कि सहज चेतना-शक्ति सिवायके जितने धर्म, गुण या परिणाम जैनसम्मत जीवतत्त्वमें माने जाते हैं वे सभी सांख्य-योगसम्मत बुद्धितत्त्व या लिंगशरीरमें माने जाते हैं[1]।

(६) जैन परम्पराके अनुसार जीवतत्त्व सहजरूपमें अमूर्त होने पर भी मूर्त कार्मण शरीरके तादात्म्ययोगसे वास्तविक रूपमें मूर्त जैसा बन जाता है, जबकि सांख्य-योगसम्मत चेतनतत्त्व इतना अधिक एकान्त दृष्टिसे अमूर्त माना जाता है कि उसके सतत सन्निधानमें रहनेवाले अचेतन या मूर्त सूक्ष्म शरीरगत मूर्तताकी उस पर वास्तविक कोई छाप नहीं पड़ती, परन्तु उस स्वच्छ बुद्धितत्त्वमें पुरुषकी और पुरुषमें बुद्धिगत धर्मकी जो छाप सन्निधानके कारण मानी जाती है वह केवल आरोपित, अवास्तविक और इसलिए सिर्फ़ व्यावहारिक है। जिस तरह आकाशमें चित्रकी कोई वास्तविक छाप नहीं उठती और फिर भी वह भासित होती है, उसी तरहकी यह छाप है[2]।

१. सांख्यकारिका ४० तथा गणधरवादकी प्रस्तावना पृ० १२२।
२. सांख्यकारिका ६२।

(७) जैन परम्परा अनेक गुणों या शक्तियोंमेंसे जिन ज्ञान, वीर्य, श्रद्धा जैसी शक्तियोंको जीवमें सहज मानती है, वैसे उन शक्तियोंको सांख्य-योग परम्परा चेतनमें न मानकर सूक्ष्म शरीररूप बुद्धितत्त्वमें मानती है[1]।

(८) जैन परम्परामें जीवमात्रकी सहज योग्यता समान होने पर भी उसके पुरुषार्थ एवं निमित्तके बलाबलके अनुसार विकास माना जाता है, वैसे ही सांख्य-योग परम्परामें सूक्ष्म या बुद्धितत्त्वको लेकर यह सब घटाया जाता है। अर्थात् सभी बुद्धितत्त्व यद्यपि सहजरूपसे समान योग्यतावाले हैं, फिर भी उनका विकास तो विवेक, पुरुषार्थ और अन्य निमित्तोंके बलाबल पर अवलम्बित है।

जीवके विषयमें जैन एवं सांख्य-योगके साथ न्यायवैशेषिक दृष्टिकी तुलना

न्यायवैशेषिक परम्परा स्वतंत्र जीववादी तो है, पर वह जैन और सांख्य-योग परम्परासम्मत जीवस्वरूपकी अपेक्षा अनेक बातोंमें भिन्न स्वरूपकी कल्पना करती है। अतएव उक्त दो परम्पराओंके साथ उसकी तुलना करना जैसे आवश्यक है वैसे रोचक भी है। न्यायवैशेषिक परम्परा सांख्य-योग परंपराकी भाँति देहभेदसे भिन्न[2] ऐसे अनन्त एवं अनादिनिधन जीवद्रव्य तो स्वीकार करती है, परन्तु जैन परम्पराकी भाँति उसे मध्यमपरिमाण न मानकर वह सांख्य-योग परम्पराकी भाँति सर्वव्यापी मानती है[3]। मध्यमपरिमाण या संकोच-विस्तार-शीलता न माननेसे

१. सांख्यकारिका ४०।

२. व्यवस्थातो नाना। —वैशेषिकदर्शन ३. २. २०

शास्त्रसामर्थ्याच्च। — वैशेषिकदर्शन ३. २. २१

३. विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा। —वैशेषिकदर्शन ७. १. २२

वह सांख्य-योगपरम्पराकी भाँति ही द्रव्यदृष्टिसे जीवको कूटस्थनित्य[1] मानती है; फिर भी वह गुणगुणी या धर्मधर्मिभावके बारेमें सांख्य-योग परम्परासे अलग पड़कर अमुक अंशमें जैन परम्पराके साथ साम्य रखती है। सांख्य-योग परम्परा चेतनाको निरंश और किसी भी प्रकारके गुण या धर्मके सम्बन्धसे रहित मानती है, तो न्यायवैशेषिक परम्परा जीवतत्त्वको जैन परम्पराकी भाँति अनेक गुणों या धर्मोंका आश्रय मानती है[2]। ऐसा होने पर भी वह जैन परम्पराके मन्तव्यसे भी भिन्न तो पड़ती ही है। जैन परम्परा जीवतत्त्वमें साहजिक और सदातन चेतना, आनन्द और वीर्य आदि अभिन्न शक्तियाँ मानकर उनके प्रतिक्षण नये नये परिणाम या पर्याय स्वीकार करती है, जबकि न्यायवैशेषिक परम्परा जीवतत्त्वमें वैसी कोई चेतना आदि शक्ति स्वीकार नहीं करती; और फिर भी उसमें ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म आदि गुण मानती है। इन गुणोंका अस्तित्व शरीरके सम्बन्ध तक ही रहता है और ये उत्पन्न-विनष्ट होते रहते हैं। न्याय-वैशेषिक द्वारा परिकल्पित ये ज्ञान, सुख आदि जीव-द्रव्यके नौ गुण एक तरहसे जैन परम्परासम्मत सहज शक्तिके पर्यायस्थानीय हैं। फिर भी दोनोंकी मान्यतामें मौलिक अन्तर यह है कि शरीरयोग न हो ऐसी विदेहमुक्त अवस्थामें भी जैन परम्पराके अनुसार जीवतत्त्वमें सहज चेतना, आनन्द, वीर्य आदि शक्तियोंके विशुद्ध परिणाम या पर्यायोंका अविरत चक्र चलता ही रहता है, जबकि न्यायवैशेषिक परम्पराकी दृष्टिसे जीवतत्त्वमें विदेहमुक्तिके समय वैसे किसी शुद्ध या अशुद्ध, क्षणिक या स्थायी ज्ञान आदि गुणका

---

१. अनाश्रितत्वनित्यत्वे चान्यत्रावयविद्रव्येभ्यः।

—प्रशस्तपादभाष्य, द्रव्यसाधर्म्यप्रकरण

२. वैशेषिकदर्शन ३. २. ४; ६. ३. ५ और ९. २. ६ तथा प्रशस्तपाद-भाष्यगत आत्मनिरूपण।

सम्भव ही नहीं होता[1]; क्योंकि वह मूलतः जीवद्रव्यमें साहजिक चेतना आदि शक्तियाँ नहीं मानती।

यहाँ न्याय-वैशेषिक परम्परा सांख्य-योग परम्पराके साथ एक बातमें मिलती है तो दूसरी बातमें जुदा भी पड़ती है। सांख्ययोग परम्परा चेतनको केवल निरंश एवं कूटस्थनित्य तथा स्वयंप्रकाश चेतनारूप मानती है, अतः वह जिस प्रकार उसे संसार दशामें किसी भी प्रकारके ज्ञानादि गुणोंके सम्बन्धसे रहित मानती है उसी प्रकार मुक्तिदशामें भी वैसा ही मानती है; जबकि न्यायवैशेषिक परम्परा जीवतत्त्वको सहज चेतनरूप नहीं मानती और फिर भी सशरीर दशामें ज्ञानादि गुणवाला मानती है, परन्तु मुक्तिकालमें वैसे गुणोंका अस्तित्व न रहनेसे वह जीवद्रव्य एक तरहसे सांख्य परम्परा सम्मत चेतन जैसा निर्गुण बन जाता है। अर्थात् मुक्तिदशामें वह सर्वथा उत्पाद-विनाशशील गुणोंसे रहित होनेसे सांख्य-योग परम्पराकी भाँति निर्गुण द्रव्य बन जाता है। इस तरह न्याय-वैशेषिक परम्पराके अनुसार मुक्त जीव आकाशकल्प बन जाता है। इसमें भेद इतना ही है कि आकाश अमूर्त होने पर भी भौतिक माना गया है, जब कि जीवद्रव्य अमूर्त और अभौतिक है। सहज चेतना तथा ज्ञान आदि गुण या पर्यायोंके अभावकी दृष्टिसे मुक्त जीवतत्त्वमें और आकाशतत्त्वमें तनिक भी अन्तर नहीं है। आकाश एक द्रव्य है, तो मुक्तजीव अनन्त हैं। यह संख्याकृत अन्तर ध्यानमें आता है।

न्याय-वैशेषिक परम्परा दूसरी भी कितनी ही बातोंमें जैन एवं सांख्य-योग परम्पराके साथ विलक्षण साम्य एवं वैषम्य रखती है। जैन परम्परा जीवतत्त्वमें स्वाभाविक कर्तृत्व और भोक्तृत्व मानती है[2]; न्याय-

---

१. देखो न्यायभाष्य १. १. २२ तथा गणधरवादकी प्रस्तावना पृ० १०५।

२. सन्मतितर्क ३. ५५।

वैशेषिक परम्परा भी ऐसा ही मानती है। परन्तु जैन-परम्परासम्मत कर्तृत्व और भोक्तृत्व जीवकी विशुद्ध और मुक्त दशामें भी रहता है, जबकि न्याय-वैशेषिक परम्परामें वैसा नहीं है। शरीर हो और ज्ञान, इच्छा आदि गुणोंका उत्पाद-विनाश होता रहे वहाँ तक तो उसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व रहता है[1], पर मुक्त दशामें वैसा कोई कर्तृत्व-भोक्तृत्व शेष नहीं रहता। इस तरह वह मुक्तिदशामें सांख्य-योगकी कल्पनाके साथ मिल जाती है।

न्याय-वैशेषिकसम्मत कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी जीवतत्त्वमें भिन्न प्रकारका है। वह जीवतत्त्वको कूटस्थनित्य मानती है, अतः उसमें सीधे तौर पर तो किसी तरहका कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं घटाया जा सकता। इसलिए वह वैसा कर्तृत्व-भोक्तृत्व गुणोंके उत्पाद-विनाशको लेकर घटाती है। वह कहती है कि जब ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि गुण होते हैं तब जीव कर्ता और भोक्ता है, परन्तु इन गुणोंका सर्वथा अभाव होने पर मुक्तिदशामें कोई साक्षात् कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं रहता, फिर भले ही ऐसा व्यवहार भूतपूर्व नयसे किया जाय। इस तरह न्याय-वैशेषिक परम्परा जैन परम्पराकी भाँति जीवमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानने पर भी जीवतत्त्वको कूटस्थनित्य घटा सकती है, क्योंकि उसके मतसे गुण जीवतत्त्वरूप आधारसे सर्वथा भिन्न हैं। अतएव गुणोंका उत्पाद-विनाश होता हो, तब भी गुण-गुणीकी भेददृष्टिके कारण वह स्वसम्मत कूटस्थनित्यता घटा लेती है। कूटस्थनित्यता घटानेके लिए सांख्य-योग परम्पराने चेतनमें किसी भी प्रकारके गुणोंका अस्तित्व ही नहीं माना और जहाँ अन्य द्रव्यके सम्बन्धसे परिवर्तन या अवस्थान्तरका प्रश्न आया वहाँ उसने उसे केवल उपचरित अथवा काल्पनिक माना, तो न्याय-वैशेषिक परम्पराने

---

१. न्यायवार्तिक ३. १. ६. तथा गणधरवादकी प्रस्तावना पृ० ५६।

स्वसम्मत कूटस्थनित्यत्व दूसरी तरहसे घटाया। उसने द्रव्यमें गुण तो स्वीकार किये, वे गुण उत्पदिष्णु और विनश्वर भी हों तो भी उनके कारण आधार द्रव्यमें किसी भी वास्तविक परिवर्तन या अवस्थान्तरका उसने इनकार किया। उसकी युक्ति यह है कि आधारभूत द्रव्यकी अपेक्षा गुण सर्वथा भिन्न हैं, अतः उनका उत्पाद-विनाश आधारभूत जीवद्रव्यका न तो उत्पाद-विनाश ही है और न अवस्थान्तर ही। इस तरह सांख्य-योग और न्याय-वैशेषिक दोनोंने अपने-अपने ढंगसे कूटस्थ-नित्यत्व घटाया, पर आत्मद्रव्यके विषयमें कूटस्थनित्यताको मान्यताका मूल प्रवाह इन दोनों परम्पराओंमें एक-सा सुरक्षित रहा है।

जैन परम्पराकी भाँति न्याय-वैशेषिक परम्परा यह तो मानती ही है कि शुभ-अशुभ या शुद्ध-अशुद्ध वृत्तियोंके कारण जीवद्रव्यमें संस्कार पड़ते हैं, पर उन संस्कारोंकी छायावाला भौतिक सूक्ष्म शरीर जैसा जैन परम्परा मानती है वैसा न्याय-वैशेषिक परम्परा नहीं मानती और फिर भी पुनर्जन्म माननेके कारण उसे कुछ तो कल्पना करनी ही पड़ती है। तदनुसार उसने माना है कि जीव तो व्यापक होनेसे गमनागमन कर नहीं सकता, परन्तु प्रत्येक जीवके साथ एक-एक परमाणुरूप मन होता है, जो कि एक देहके नाश होने पर देहान्तर धारण करनेके स्थानमें गति करके जाता है। मनका यह स्थानान्तर ही आत्माका पुनर्जन्म है। जैन परम्पराके अनुसार तो जोव स्वयं ही अपने सूक्ष्म भौतिक शरीरके साथ स्थानान्तर करता है, जबकि न्याय-वैशेषिक परम्पराके अनुसार पुनर्जन्मका अर्थ जीवका स्थानान्तर नहीं, किन्तु मनका ही स्थानान्तर है।

यहाँ पर सांख्य-योग परम्पराकी पुनर्जन्म घटानेकी रीति तुलना करने जैसी है। वह ऐसी कल्पना करती है कि बुद्धि या सूक्ष्म

लिंगशरीर, जो धर्म-अधर्म आदि गुणोंका आश्रय है और जो मध्यम-परिमाण होनेसे गतिशील भी है, मृत्युकालमें स्थूलदेह छोड़कर एक स्थानसे स्थानान्तरमें जाता है[1], तो न्याय-वैशेषिक परम्परा प्रकृतिजन्य

---

१. जैन परम्पराने जो पौद्गलिक कार्मणशरीर माना है वह तो द्रव्यकर्म है। उसके मतके अनुसार भावकर्म जीवगत संस्कार हैं। नैयायिकोंने कार्मण-शरीरके स्थानमें मनको माना है। वह एक द्रव्य है, परन्तु उन्होंने भी भावकर्मस्थानीय अव्यक्तको कर्मप्रकृतिके रूपमें स्वीकार किया है—

द्वे शरीरस्य प्रकृती व्यक्ता च अव्यक्ता च। तत्र अव्यक्तायाः कर्मसमाख्यातायाः प्रकृतेरुपभोगात् प्रक्षयः। प्रक्षीणे च कर्मणि विद्यमानानि भूतानि न शरीरमुत्पादयन्ति इत्युपपन्नोऽपवर्गः।

—न्यायवार्तिक ३. २. ६८

इसके अतिरिक्त विशेष अध्ययनके लिए देखो गणधरवादकी प्रस्तावना पृ० १२१।

सांख्यकारिकाकी 'युक्तिदीपिका' (का. ३९) में लिंग शरीरके बारेमें अनेक मत दिये हैं। उनमें पंचाधिकरण, पतंजलि और विन्ध्यवासीके तीन भिन्न भिन्न मत हैं। पतंजलिकी विशेषता यह है कि वह प्रत्येक जन्ममें नये नये सूक्ष्म शरीरकी कल्पना करते हैं, जबकि विन्ध्यवासी वैसा अन्तरालवर्ती शरीर नहीं मानते। ऐसा ही एक मत महाभारत (३. ११३. ७७) में उल्लिखित है। इसके अतिरिक्त शंकरकृत 'प्रपंचसारतंत्र'में भी जन्मान्तरगामी सूक्ष्म शरीर विषयक दूसरे भी मत हैं। उन मतोंका निर्देश टीकाकार पद्मपादने भिन्न-भिन्न आचार्योंके नामके साथ किया है; जैसे कि—पंचाधिकरण, वार्षगण्य, आवट्य, विन्ध्यवासी; पतंजलि, धन्वन्तरि। उनमें शंकराचार्यने एक ऐसे मतका भी उल्लेख किया है कि पिताकी आत्मा ही पुत्रमें संक्रान्त होती है। यह विचार ऐतरेय उपनिषद् (अ. २. १–३) में है। युक्तिदीपिका एवं प्रपंचसारगत इन सभी मतोंका विवरण श्री पुलिनबिहारीने अपनी 'Origin and Development of the Sāṃkhya System of Thought' नामक पुस्तक (पृ. २८८-९८) में बहुत विस्तार और स्पष्टतासे किया है। उसमें उन्होंने चरक, सुश्रुत, काश्यपसंहिता, अष्टांगहृदय जैसे आयुर्वेदिक ग्रन्थोंका भी उपयोग किया है। अन्तमें स्वयं ईश्वरकृष्णका सूक्ष्म शरीरके विषयमें जो मन्तव्य है वह का. ४० के अनुसार स्पष्ट किया है।

वैसा सूक्ष्म शरीर न मानकर और नित्य परमाणुरूप मनको ही गतिशील मानकर पुनर्जन्मकी व्यवस्था करती है। जैन परम्पराके अनुसार जीव स्वयं ही सूक्ष्म शरीरके साथ वास्तविक तौर पर गति-आगति करनेवाला माना गया है, तो सांख्य-योग और न्याय-वैशेषिक परंपराके अनुसार जीवमें वैसी किसी प्रकारकी गति-आगतिके लिए स्थान ही नहीं है। उनके मतसे जीवका पुनर्जन्म अर्थात् उसकी उपाधिका गमनागमन है।

न्याय-वैशेषिक परम्परा जैन परम्पराकी भाँति जीवमें ज्ञान, श्रद्धा और वीर्य अर्थात् प्रयत्न या पुरुषार्थकी शुद्धि-अशुद्धिके परिमाणके अनुसार उसकी वास्तविक उत्क्रान्ति एवं अपक्रान्ति मानती है, नहीं कि सांख्य-योग परम्पराकी भाँति उपाधिभूत सूक्ष्म लिंग शरीरके सम्बन्धसे आरोपित या काल्पनिक।

जीवके विषयमें बौद्ध दृष्टियाँ

स्वतंत्र जीवतत्त्वकी विचारसरणी रखनेवालोंमें बौद्ध विचारसरणी अन्तमें आती है। सामान्यतः प्रत्येक बौद्धेतर परम्परा बौद्ध परम्पराको निरात्मवादी कहती आई है। अतः जब यहाँ उसे स्वतंत्र जीववादमें

इसके अलावा मृत्यु होते ही सूक्ष्म शरीर नया शरीर धारण करनेके लिए किस तरह प्रवृत्त होता है इसकी भी चर्चा मिलती है। कोई कहता है कि जैसे जोंक अगले पत्तेको मजबूत पकड़नेके बाद ही पहलेका पत्ता छोड़ती है, वैसे ही नया स्थान प्राप्त करनेके साथ ही सूक्ष्म शरीर पूर्वशरीरको छोड़ता है। दूसरा कहता है कि एक दीयेमेंसे जैसे दूसरा दीया प्रकट होता है वैसे पूर्वजन्मके बाद नया जन्म होता है। इसके साथ जैन परम्पराकी कार्मणशरीरकी गतिकी तुलना करने जैसी है। वह ऋजु और विग्रह ऐसी दो गतियाँ मानती है और ऋजुगतिके समय बीचमें कुछ भी अन्तर नहीं रहता।

पुनर्जन्म और तत्सम्बन्धी विषयोंके बारेमें श्री अरविन्दका Rebirth नामक ग्रन्थ खास द्रष्टव्य है।

स्थान देकर चर्चा करनी हो, तो पहले यह विचारना चाहिए कि प्रतिपक्षी उसे किस दृष्टिसे निरात्मवादी कहते आये हैं और वह किस अर्थमें स्वतंत्र जीववादी है ?

तथागत बुद्धसे पहले और उनके समयमें यहाँके तत्त्वचिन्तकोंमें आत्मा, चेतन या जीवके स्वरूपके विषयमें मुख्य रूपसे दो विचारधाराएँ चलती थीं। एक ऐसा मानती कि आत्मतत्त्व अथवा उसकी शक्तिके ऊपर किसी भी प्रकारका कालतत्त्वका असर नहीं पड़ता। कालपटमें उसका पूर्ण अर्थमें अस्तित्व होने पर भी उसके प्रभावसे वह अलिप्त रहता है, जबकि दूसरी विचारधारा ऐसी थी कि आत्मतत्त्व और उसकी शक्तियाँ पूर्ण अर्थमें तद्‌वस्थ रहने पर भी वे कालतत्त्वके प्रभावसे सर्वथा अलिप्त नहीं रह सकतीं। पहली विचारधाराके अनुसार अस्तित्व या सत्त्वका अर्थ है तीनों कालोंमें सर्वथा अबाधित या अपरिवर्तिष्णु रहना। दूसरी विचारधाराके अनुसार अस्तित्वका अर्थ यह है कि सत् तत्त्व परिवर्तिष्णु तो होता है, फिर भी उसका व्यक्तित्व एक और अखण्ड ही रहता है। ये दोनों विचारधाराएँ शाश्वतवादी हैं। शाश्वतका अर्थ है निरन्तर। जो परिवर्तन प्राप्त किये बिना अथवा परिवर्तन प्राप्त करने पर भी तीनों कालोंमें स्थायी और शाश्वत रहे वह शाश्वत। ये दोनों विचारधाराएँ अपनी-अपनी दृष्टिसे चेतनतत्त्वको भी शाश्वत मानतीं, अर्थात् अपनी-अपनी दृष्टिसे वह चेतन या आत्मतत्त्वको एक अखण्ड द्रव्य मानतीं। इस मान्यताके सामने बुद्धका विचार अस्तित्वमें आया। उन्होंने कहा कि कोई तत्त्व या सत्त्व ऐसा नहीं है जो कालप्रवाहमें अखण्ड या अबाधित रह सके। प्रत्येक तत्त्व या अस्तित्व अपने स्वभावके कारण ही कालके आनन्तर्य नियम अथवा क्रमनियमका वशवर्ती होता है अतः ऐसे दो क्षण भी नहीं हो सकते कि जिनमें कोई एक सत् तदवस्थ रहे। इस तरह बुद्धने एक प्रकारसे वस्तुके मौलिक स्वरूप

या सत्त्वको ही कालस्वरूप मान लिया। इसीलिए उन्होंने शाश्वत द्रव्यवादके स्थानमें क्षणिकभाव या गुणसंघातवादकी स्थापना की। इस स्थापनामें उन्होंने अचेतनतत्त्वके साथ चेतन या आत्मतत्त्वको भी रखा। इससे जो शाश्वत आत्मवादकी मान्यतासे पूर्णतः रंगे हुए थे उन्हें स्वाभाविक रूपसे ऐसा लगा कि बुद्धने तो आत्मतत्त्वका ही इनकार किया है। उनकी इस मान्यताने बुद्धको निरात्मवादी कहनेके लिए प्रेरित किया और बुद्ध निरात्मवादीके रूपमें लोगोंमें प्रसिद्ध भी हुए।

परन्तु बुद्धकी दृष्टि साधारण नहीं थी। उन्हें जिस तरह शाश्वतवादमें कोई प्रबल युक्ति या समर्थ आधार प्रतीत न हुआ, उसी तरह उन्हें चेतन या चैतन्यतत्त्वके सर्वथा निषेधमें भी कोई समर्थ युक्ति प्रतीत न हुई। बुद्ध स्वयं पुनर्जन्मवादी होनेसे कर्मवाद, पुरुषार्थवाद और आध्यात्मिक उत्क्रान्तिवादके मात्र समर्थक ही नहीं थे, उसके स्वानुभवी भी थे। इससे उन्होंने लोकायतके भूतचैतन्य जैसे उच्छेदवादका भी सत्कार नहीं किया। उन्होंने अपने मध्यममार्गमें जीव, आत्मा या चेतनतत्त्वको स्वतंत्र तत्त्वके रूपमें स्थान तो दिया, परन्तु वह अपने ढंगसे। इस वस्तुको सहानुभुतिसे नहीं देखनेवाले या नहीं जाननेवाले प्रतिपक्षी उनके वादको निरात्मवाद कहें तो यह स्वाभाविक है, परतु वस्तुतः वह वाद निरात्म नहीं है[1]।

आत्मतत्त्वको पूर्णरूपसे स्वतंत्र माननेवाली विचारसरणियोंमें उसके स्वरूपके बारेमें परस्पर प्रबल मतभेद है, फिर भी एक-दूसरेको कोई अपनेसे विरुद्ध मत रखनेके कारण, निरात्मवादी नहीं कहता। जैसेकि,

---

१. बुद्धके अनात्मवादके विषयमें देखो न्यायावतारवार्तिकवृत्तिकी प्रस्तावना पृ० ६, १५, १८–९, २१; गणधरवाद पृ० ८२ तथा The Tibetan Book of the Dead by Y. W. Evans-Wentz (Publisled by the Oxford University press) P. 225.

जैन दर्शनको सांख्य-योग या न्याय-वैशेषिक आदि निरात्मवादी नहीं कहते, तो जैन दर्शन भी उन्हें निरात्मवादी नहीं मानता। अतः चेतनके स्वरूपके बारेमें अत्यन्त उग्र मतभेद रखनेवाली बौद्ध विचार-सरणीको तो कोई विचारक निरात्मवादी कह ही नहीं सकता, फिर भले ही वह दूसरोंकी अपेक्षा सर्वथा भिन्न रूपमें और भिन्न परिभाषामें आत्मस्वरूपका निरूपण करती हो। आखिरकार स्वतंत्र आत्मतत्त्वकी मान्यता किसलिए है? इसके लिए क्या आधार है? इसका उत्तर तो पुनर्जन्मवाद और उसके साथ आनुषंगिक रूपसे सम्बद्ध दूसरे नैतिक और बन्ध-मोक्ष जैसे आध्यात्मिकवाद हैं। यदि बुद्ध इन सब वादोंको पूर्णरूपसे स्वीकार करते हों, तो उनके मन्तव्यको कभी भी निरात्मवाद नहीं कहा जा सकता। उल्टा, यह तो उस वादका पटुतम बुद्धिकौशल समझना चाहिए कि वह अपने दृष्टिपूत क्षणिकवादमें भी पुनर्जन्म आदिकी योग्य रीतिसे व्यवस्था करता है।[1]

अब हम यह देखें कि स्वतंत्र जीवतत्त्वके बारेमें बौद्ध किस तरहसे सोचते आये हैं? बुद्धका अपना दृष्टि विन्दु ही वेधक था, अतएव वह किसी भी सत् या द्रव्यकी स्थिरता देख नहीं सकता था। स्थापकके इस दृष्टिबिन्दुने उनके उत्तरवर्ती समग्र अनुयायीवर्गोंके ऊपर प्रबल प्रभाव डाला है। इससे जैन, सांख्य-योग या न्याय-वैशेषिक जैसी परम्पराओंमें जिस तरहकी आत्मस्वरूपके बारेमें अपनी-अपनी अखण्ड एकवाक्यता रही है, वैसा बौद्ध निकायमें नहीं हुआ। उसके तत्त्वनिरूपणके इतिहासमें आत्मस्वरूपके विषयमें हम पाँच श्रेणीविभाग देखते हैं—(१) पुद्गलनैरात्म्य, (२) पुद्गलास्तित्ववाद, (३) त्रैकालिक धर्मवाद और वार्तमानिक धर्मवाद, (४) धर्मनैरात्म्य या

---

१. देखो तत्त्वसंग्रहगत 'कर्मफलसम्बन्धपरीक्षा' पृ० ४७६।

निःस्वभाव या शून्यवाद, और (५) विज्ञप्तिमात्रतावाद ।[1]

यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि इन सभी वादोंके पुरस्कर्ताओंने बुद्धका मुख्य दृष्टिबिन्दु और ध्येय मान्य रख करके ही अपने-अपने विचारोंका विकास किया है। वह ध्येय अर्थात् चार आर्यसत्यके आधार पर आध्यात्मिक शुद्धि और उत्क्रान्तिकी स्थापना ।

पालि पिटक एक स्वरसे कहते हैं कि इतर चिन्तक जिसका आत्माके रूपमें वर्णन करते हैं वह तत्त्व परस्पर अविभाज्य वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञानका प्रतिक्षण बदलनेवाला संघातस्वरूप है।[2] बौद्ध इसका 'नाम' पदसे भी निर्देश करते हैं। उपनिषदोंमें 'नाम-रूप' युगल आता है और वहाँ ऐसा भी उल्लेख आता है कि कोई मूलभूत एक तत्त्व अपने आपको नाम एवं रूप स्वभावमें व्याकृत करता है।[3] बुद्ध ऐसा कोई भिन्न मूल तत्त्व नहीं मानते कि जिसमेंसे नामका व्याकरण हो, पर वे तो रूपकी भाँति नामको ही स्वतंत्र तत्त्व मानते हैं और वह तत्त्व भी प्रथम सूचित संघातरूप एवं सन्ततिबद्ध होनेके कारण अनादिनिधन है। पिटककी इस स्थापनामें हम यह देख सकते हैं कि वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञानकी संघातधारा अनवरत बहती रहती है। उस धाराकी न तो कोई आदि है और न कोई अन्त। इस विज्ञानकेन्द्रित धारामें चेतन या पुद्गलद्रव्यके स्थायी व्यक्तित्वका कोई

---

१. बौद्ध तत्त्वज्ञानकी तीन भूमिकाओंके लिए देखो Buddhist Logic Vol. I, pp. 3-14 और Central Philosophy of Buddhism p. 26.

२. देखो विसुद्धिमग्गमें खंधनिद्देस १४ तथा गणधरवादकी प्रस्तावना पृ० ८२-७।

३. तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्। तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत।

—बृहदारण्यकोपनिषद् १. ४. ७

स्थान न होनेसे यह मान्यता पुद्गलनैरात्म्यवादके नामसे प्रसिद्ध है।

परन्तु बौद्ध संघके चारों ओर शाश्वत आत्मवादियोंके अनेक मंडल थे। जब उनको तरफसे निरात्मताके आक्षेप शुरू हुए होंगे और शाश्वतवादी संस्कार धारण करनेवाले कुछ लोग बौद्धसंघमें दाखिल हुए होंगे, तब उन्होंने अपने ढँगसे पुनः पुद्गलवादकी स्थापना की। कथावत्थु और तत्त्वसंग्रह आदिमें यह वाद एकदेशीय बौद्धके पूर्वपक्षके रूपमें आया है।[१] इन सम्मितीय या वात्सीपुत्रीय पुद्गलवादियोंने कहा कि पुद्गल या जीव द्रव्य वास्तविक अर्थमें है, पर जब पूछा गया कि तो क्या उसका अतित्व 'रूप' जैसा है, तब उन्होंने इसका निषेध किया। इस तरह बौद्ध संघमें पुद्गलास्तित्ववाद आया तो सही, पर बुद्धके मूल दृष्टिविन्दुके साथ वह संगत न हो सका और अन्तमें नाम शेष हो गया।

पुद्गलनैरात्म्यवाद अनेक रूपमें विकसित होता जा रहा था। उसे मुख्य चिन्ता तो यह थी कि वह शाश्वत आत्मवादियोंके समक्ष कैसे टिक सके और साथ ही यह भी चिन्ता थी कि दूसरोंके आक्षेपोंका जवाब देनेके अतिरिक्त किस तरह पुनर्जन्म और बन्ध-मोक्ष आदिकी व्यवस्था विशेष बुद्धिग्राह्य रूपमें की जा सके? इस चिन्तामेंसे सर्वास्तिवाद अस्तित्वमें आया। उसने उस 'नाम' तत्त्वका 'चित्त' पदसे भी प्रयोग किया और उस चित्त अथवा वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञानके संघातको अनेक सहजात एवं आगन्तुक तथा साधारण एवं

---

१. कः पुनरत्र संयुज्यते? (पृ० २५४)·······पौद्गलिकस्यापि अव्याकृतवस्तुवादिनः पुद्गलोऽपि द्रव्यतोऽस्तीति। (पृ० २५८)······नग्नाटपक्षे प्रक्षेप्तव्याः। (पृ० २५९)—अभिधर्मदीप और इन परके टिप्पण (पृ० २५४) से इसमें बौद्धसम्मत अनात्मवादकी प्रक्रियाका अनेक ग्रन्थोंके आधार पर संकलन है। इसके अतिरिक्त देखो तत्त्वसंग्रह का. ३३६ से।

असाधारण अंशोंमें या धर्मोंमें विभक्त करके उसका निरूपण किया। यही सर्वास्तिवाद है। इस वादने चित्त और उसकी विविध अवस्थाओं या चैतसिकोंका सूक्ष्म—अतिसूक्ष्म निरूपण किया, परंतु इसने अपने मौलिक क्षणिकवादसे चिपके रहने पर भी अनागत और अतीत अध्वाका स्वीकार करके प्रत्येक क्षणिक चित्त एवं चैतसिककी त्रैकालिकता अपने ढँगसे स्थापित की।[1] इसके सामने पुनः विरोध शुरू हुआ कि बुद्ध तो मात्र क्षणिक और वर्तमानवादी हैं, तो फिर उसके साथ त्रैकालिकता कैसे संगत हो सकती है? त्रैकालिकता तो पिछले दरवाज़ेमेंसे शाश्वतवादका प्रवेश है। इस विचारमेंसे सौत्रान्तिकवाद अस्तित्वमें आया। उसने धर्मोंका अर्थात् चित्त-चैतसिकोंका सारा विकसित ढाँचा मान्य रखा, परन्तु उन धर्मोंको त्रैकालिक अस्तित्वसे सर्वथा मुक्त किया और केवल वार्तमानिक स्थापित किया।

इस तरह परस्पर पक्ष-प्रतिपक्षकी प्रबल चर्चाएँ और वादगोष्ठियाँ चलती थीं। कोई सत्का स्थापन करता, तो दूसरा सर्वथा विरुद्ध असत् पक्षका; कोई सदसदुभय पक्षका, तो कोई अनुभव पक्षका स्थापन करता। इसी तरह नित्य, अनित्य, उभय, अनुभय और एक, अनेक, उभय, अनुभय आदिकी अनेक चतुष्कोटियाँ चलती थीं। नागार्जुन जैसोंको लगा कि इन कोटियोंमें पड़ना बुद्धके मध्यममार्गके साथ संगत नहीं है। इस विचारने उसे चतुष्कोटिविनिर्मुक्त[2] तत्त्वकी दिशामें प्रेरित किया और

---

१. देखो तत्त्वसंग्रहगत त्रैकाल्यपरीक्षा का. १७८६ से (पृ० ५०३)। अभिधर्मदीप (टिप्पण सहित, का. २९९ पृ० २५०) में बौद्ध शासनमें रहे हुए चार वादियोंका वर्णन करते समय सर्वास्तिवादका वर्णन है, जो कि कालत्रयको स्वीकार कर सब कुछ घटाते हैं।

२. माध्यमिकवृत्ति पृ० १६, २६ और १०८ और पृ० २७६ परकी का. ५, ७; तथा स्याद्वादमंजरी का. १७.

उसमेंसे उसने शून्यवादकी स्थापना की। शून्य अर्थात् धर्मनैरात्म्य या निःस्वभावता। किसी धर्मी या धर्ममें तथा इस या उस पक्षमें बँध जाना मध्यममार्ग नहीं है। जो पारमार्थिक तत्त्व है वह तो चतुष्कोटिविनिर्मुक्त और केवल प्रज्ञागम्य होता है। इसलिए शून्यवादका निरूपण करने पर भी उसने बुद्धकी मध्यमप्रतिपदा अथवा आध्यात्मिक उत्क्रान्तिवादकी रक्षा तो की ही।

इसके पश्चात् अन्तमें योगाचार आता है। उसे ऐसा लगा होगा कि शून्यवाद किसी तत्त्वका भावात्मक या विधि रूपसे निरूपण नहीं करता, फलतः बुद्धका विज्ञानकेन्द्रित 'नाम' तत्त्व भी लोगोंकी दृष्टिमें शून्यवत् बन जाता है। शायद ऐसे ही किसी विचारने योगाचार-वादियोंको विज्ञानवादकी ओर प्रेरित किया। उन्होंने नाम, चित्त, चेतना या आत्मा, जो कहो उसे मात्र विज्ञप्ति रूप स्थापित किया। पहलेके वादोंकी अपेक्षा उनकी विशेषता यह है कि पहलेके बौद्ध वादी

तस्मान्न भावो नाभावो न लक्ष्यं नापि लक्षणम्।
आकाशं आकाशसमा धातवः पंच ये परे॥
अस्तित्वं ये तु पश्यन्ति नास्तित्वं चाल्पबुद्धयः।
भावानां ते न पश्यन्ति द्रष्टव्योपशमं शिवम्॥

—मध्यमककारिका ५ ७-८

यथोक्तमार्यरत्नावल्याम्—

नास्तिको दुर्गतिं याति सुगतिं यात्यनास्तिकः।
यथाभूतपरिज्ञानान्मोक्षमद्वयनिःश्रितः॥

आर्यसमाधिराजे चोक्तं भगवता—

अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता शुद्धी अशुद्धीति इमेऽपि अन्ता।
तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा मध्येऽपि स्थानं न करोति पण्डितः॥
अस्तीति नास्तीति विवाद एषः शुद्धी अशुद्धीति अयं विवादः।
विवादप्राप्त्या न दुःखं प्रशाम्यते अविवादप्राप्त्या च दुःखं निरुध्यते॥

—माध्यमिकवृत्ति पृ० १३५-६

विज्ञानबाह्य रूप (इन्द्रियग्राह्य भूत-भौतिक तत्त्व) का वास्तविक अस्तित्व मान्य रख करके ही विचार करते थे, जबकि प्राचीन और नवीन सभी विज्ञानवादियोंने वैसे बाह्य रूपका पृथक् अस्तित्व स्वीकार नहीं किया और कहा कि जिसे बौद्ध एवं इतरवादी 'रूप' कहते हैं वह मूर्त तत्त्व मात्र विज्ञानका ही एक स्वरूप है, पर अविद्या, वासना या संवृतिके कारण वह विज्ञानसे भिन्न-सा भासित होता है। इस तरह बौद्ध परम्परा आत्मस्वरूपके बारेमें अनेक सोपानोंमेंसे गुज़र कर अन्तमें योगाचारसम्मत विज्ञप्तिमात्रवादमें प्रतिष्ठित हुई और धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित एवं कमलशील जैसोंने उसे बुद्धिग्राह्य बनानेका समर्थ प्रयत्न किया[1]।

बौद्ध परम्पराकी कोई भी शाखा क्यों न हो, उसे देहभेदसे स्वसम्मत चित्तसन्तान या जीवका वास्तविक भेद इष्ट है। विज्ञानाद्वैतवादी, जो विज्ञानसे भिन्न कुछ भी वास्तविक नहीं मानते, वे भी विज्ञानसन्ततियोंका परस्पर वास्तविक भेद मानकर देहभेदसे जीवभेदकी मान्यता का ही अनुसरण करते हैं[2], जो मान्यता श्रमण परम्पराका एक सामान्य लक्षण है।

बौद्ध परम्परा चित्त, विज्ञानसन्तति या जीवके परिमाणके विषयमें कोई ख़ास विचार उपस्थित नहीं करती, जिससे निश्चितरूपसे ऐसा कहा जा सके कि वह अणुवादी है या देहपरिमाणवादी है। फिर भी बौद्ध ग्रन्थोंमें जहाँ-तहाँ ऐसा कहा गया है कि चित्त या विज्ञानका आश्रय 'हृदयवत्थु' है[3]। इससे सामान्यतः ऐसा कहा जा सकता है कि बौद्ध

---

१. प्रमाणवार्तिक २. ३२७ आदि तथा तत्त्वसंग्रहकी बहिरर्थपरीक्षा पृ० ५५०-८२।

२. इस बातको सिद्ध करनेके लिए ही धर्मकीर्तिने 'सन्तानान्तर सिद्धि' नामक ग्रन्थ लिखा है।

३. विसुद्धिमग्ग १४. ६० तथा १७. १६३ आदि।

परिमाणकी दृष्टिसे चित्त या जीवतत्त्वका ख़ास विचार न करते हों, तो भी वे हृदयवत्थु-निश्रित विज्ञानके सुख-दुःखादि वेदनारूप असरको देहव्यापी मानते ही होंगे।

जैन, सांख्य, योग आदि अपने-अपने ढंगसे जन्मान्तर घटानेके लिए जैसा एक स्थानसे स्थानान्तरमें संचार करनेवाला सूक्ष्म शरीर मानते हैं वैसा बौद्ध भी पहलेसे मानते आये हों, ऐसा प्रतीत होता है। दीघनिकायमें 'गन्धर्व' पद आता है। उसका अर्थ ऐसा किया जाता है कि कोई मरकर अन्यत्र जन्म लेनेवाला हो तब वह गन्धर्व सात दिन तक अनुकूल अवसरकी प्रतीक्षा करता है। इस गन्धर्वकी कल्पनाके आधार पर कथावत्थु जैसे ग्रन्थोंमें अन्तराभव शरीरकी चर्चा हुई है। आगे जाकर वसुबन्धु जैसे वैभाषिकों और दूसरोंने भी अन्तराभव शरीर मानकर उसका समर्थन किया है[१]। केवल अपवाद है थेरवादी बुद्धघोषका। उसने वैसा कोई अन्तराभव शरीर माने बिना ही प्रतिसन्धिकी उपपत्ति कुछ दृष्टान्त देकर की है[२]।

जीवके स्वरूपके विषयमें औपनिषद विचारधारा

अब जीवके स्वरूपके बारेमें औपनिषद विचारधाराको लेकर कुछ कहना अवसरप्राप्त है। भिन्न-भिन्न प्राचीन उपनिषदोंमें और कई बार तो एक ही उपनिषद्के भिन्न-भिन्न भागोंमें जीव एवं ब्रह्मके स्वरूपके विषयमें कल्पनाभेद एवं विचारभेद दृष्टिगोचर होता है। इससे ऐसा कहा जा सकता है कि समग्र उपनिषदोंका स्वर एक ही प्रकारका नहीं है। इसी कारण उपनिषदोंके ऊपर आधार रखनेवाले

---

१. देखो अभिधर्मदीप पृ० १४२ टिप्पणके साथ तथा The Tibetan book of the dead.

२. विसुद्धिमग्ग १७. १६३।

चिन्तकोंमें पहले ही से जीवके स्वरूपके बारेमें अनेक विचार-प्रस चलते रहे। उन प्रस्थानोंमेंसे स्वाभिप्रेत मन्तव्यकी स्थापनाके बादरायणने ब्रह्मसूत्रकी रचना की और उसमें पूर्वप्रचलित कई मतान्तरं उल्लेख भी किया। उपनिषदोंकी भाँति ब्रह्मसूत्रकी भी बहुत प्रि जमी। इससे उस पर अनेक व्याख्याएँ रची जाने लगीं और विचार प्रस्थान पहलेसे अस्तित्वमें थे वे ब्रह्मसूत्रकी व्याख्याओंके रू पुनः विकसित हुए; परन्तु वे प्राचीन व्याख्याएँ आज ज्योंकी उपलब्ध नहीं हैं।

आचार्य शंकरने ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थोंके ऊपर भाष्य लिखे ३ मायावादकी स्थापना की कि फ़ौरन ही पुनः प्रतिक्रिया शुरू हुः जिन विचार प्रस्थानोंको मायावाद मान्य नहीं था उन्होंने किसी-न-वि पूर्ववर्ती आचार्योंके मार्गका अनुसरण कर ब्रह्मसूत्र पर मायावाद वि व्याख्याएँ लिखीं। इनमें भास्कर, रामानुज, निम्बार्क आदि आच प्रसिद्ध हैं। इन आचार्योंकी विचारणामें परस्पर थोड़ा-बहुत मतभेद परिभाषा एवं दृष्टान्तोंके उपयोगमें भी कुछ भेद है, तो भी एक बा वे सब सहमत हैं कि शंकराचार्य कहते हैं वैसा जीवका केवल मा अस्तित्व नहीं है, अपितु वह वास्तविक है और वास्तविक अस्ति रखनेवाले वे जीव भी देहभेदसे भिन्न एवं नित्य हैं। शंकर अ प्रत्येक आचार्य अपने-अपने मन्तव्यके समर्थनमें उपनिषदोंका आधार मुख्यरूपसे लेते हैं और बहुत-से स्थानों पर तो एक ही पाठको वे भि भिन्न रीतिसे घटाते हैं। इस तरह औपनिषद प्रस्थान अनेक किन्तु उनका वर्गीकरण करके कहना हो तो ऐसा कहा जा सकता कि एक शंकरका पक्ष, दूसरा मध्वका पक्ष और तीसरे पक्षमें बाक़ीके सब

शंकर ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरे किसी भी तत्त्वको पारमार्थिक सत् मानकर व्यवहारमें अनुभूयमान जीवभेदकी उपपत्ति माया या अवि

शक्तिसे करते हैं। यह शक्ति भी ब्रह्मसे स्वतंत्र नहीं है। अतः शंकरके मतके अनुसार जीव और उनका परस्पर भेद तात्त्विक नहीं है[1]। इससे सर्वथा विरुद्ध मत मध्वका है। वह कहते हैं कि जीव काल्पनिक नहीं, किन्तु वास्तविक हैं और उनका परस्पर भेद भी वास्तविक है तथा वह ब्रह्मसे भी भिन्न है। इस तरह मध्वमत वास्तविक अनन्त नित्य जीववादमें स्थान पाता है[2]।

भास्कर आदि सभी आचार्योंने जीवको वास्तविक तो माना है, पर ब्रह्मके एक परिणाम, कार्य या अंशके रूपमें। ये परिणाम, कार्य या अंश भले ब्रह्मशक्तिजनित हों, परन्तु ये किसी भी रूपमें मायिक तो नहीं हैं। इस तरह ये विचारप्रस्थान चलते हैं।

महाभारतमें सांख्यके मतके रूपमें तीन विचारभेदोंका उल्लेख मिलता है एक चौबीस तत्त्ववादी है, दूसरा स्वतंत्र अनन्त पुरुष माननेवाला पचीस तत्त्ववादी है। और तीसरा पुरुषोंसे भिन्न एक ब्रह्मतत्त्व माननेवाला छब्बीस तत्त्ववादी है। ऐसा लगता है कि शायद मूलमें ये तीन विचारप्रस्थान होंगे। उनके आधार पर भिन्न-भिन्न आचार्योंने अपनी-अपनी मान्यताका विकास किया और उपनिषदोंका आधार भी लिया। आगे जाकर शंकर जैसोंने प्रकृति या प्रधान तत्त्वके स्वतन्त्र व्यक्तित्व और कर्तृत्वको गलाकर जब उसे ब्रह्मशक्ति या

---

१. जीवो ब्रह्मैव नापरः। —ब्रह्मसिद्धि पृ० ९ देखो डॉ. सी. डी. शर्माका 'बौद्धदर्शन और वेदान्त' नामक ग्रन्थ पृ० २२४।

२. तथा च परमा श्रुतिः—

जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा।
जीवभेदो मिथश्चैव जडजीवभिदा तथा॥
मिथश्च जडभेदो यः प्रपंचो भेदपञ्चकः।

—सर्वदर्शनसंग्रहगत पूर्णप्रज्ञदर्शन

अविद्या या मायाका स्थान दिया तब उसके साथ ही पचीसवें तत्त्वके रूपमें माने गये स्वतंत्र व अनन्त जीव या पुरुषोंका स्थान भी न रहा और सब कुछ ब्रह्ममेंसे घटाया गया। दूसरी ओर जिन्होंने प्रकृति एवं पुरुषोंका व्यक्तित्व सर्वथा गला नहीं डाला, परन्तु ब्रह्मके एक परिणाम, कार्य और अंशके रूपमें उनका व्यक्तित्व सुरक्षित रखा, उन्होंने ब्रह्मके परिणामकी, कार्यकी अथवा अंशकी वास्तविकता स्थापित करके जीव-स्वरूपकी प्रतिष्ठा की। ये सब एक तरहसे वास्तविक जीववादी होने पर भी ब्रह्मपरिणामवादी होनेसे परतंत्र जीववादीकी कोटिमें आते हैं। इसके बारेमें सविस्तर चर्चा करनेका यह स्थान नहीं है, फिर भी इन वेदान्ती मतोंका दिग्दर्शन किये बिना जीवविषयक विचार पूरा नहीं हो सकता। अतएव हम अब उस पर भी विचार कर लें।

जीव विषयक वेदान्तविचारधारा केवलाद्वैत, सत्योपाधि-अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, अविभागाद्वैत, शुद्धाद्वैत एवं अचिन्त्यभेदाभेद जैसी मुख्यतः अद्वैतलक्षी परम्पराओंमें प्रवर्तमान है और द्वैतवादके रूपमें भी समर्थन पाती रही है।

केवलाद्वैत शङ्करका है। वह एकमात्र ब्रह्मको पारमार्थिक मानकर जगत्की भाँति जीवका भेद भी मायाके बलसे घटाते हैं। अतः इस वादके अनुसार जीव कोई स्वतन्त्र एवं नित्यतत्त्व नहीं है, पर माया, अविद्या या अन्तःकरणके सम्बन्धसे होनेवाला पारमार्थिक ब्रह्मका आभास-मात्र है और जब ब्रह्मके साथ जीवके ऐक्यका अनुभव होता है तब वह आभास भी नहीं रहने पाता। केवलाद्वैतवादको मात्र शुद्ध एवं अखण्ड चित् तत्त्व ही इष्ट होनेसे उसे शुद्ध ब्रह्मके साथ जैसे जीवतत्त्वके सम्बन्धकी उपपत्ति करनी पड़ती है वैसे ही जीवके पारस्परिक भेदको उपपत्ति भी करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त पुनर्जन्म घटानेके लिए देहसे देहान्तरका संक्रम भी घटाना पड़ता है। मूलमें एक ही पारमार्थिक

तत्त्व हो और अनेक प्रकारके भेदोंको घटाना पड़े तब उसका एकमात्र उपाय माया या अविद्याका आश्रय लेना ही रहता है। इसीसे केवलाद्वैतवादने माया या अविद्याका आश्रय लेकर समग्र लौकिक एवं शास्त्रीय भेदप्रधान व्यवहार घटाया है। परन्तु यह घटना कुछ एक ही रीतिसे नहीं हुई। शंकरको अन्तिम रूपसे क्या इष्ट था यह उनके शब्दमें निर्दिष्ट नहीं है। अतएव उनके शिष्य एवं व्याख्याकारोंने इस विषयमें अनेक कल्पनाएँ की हैं, जो बहुत बार तो परस्पर विरुद्ध भी दीख पड़ती हैं। यहाँ हम शंकरके व्याख्याकारों द्वारा की गई भिन्न-भिन्न कल्पनाओंके थोड़े दृष्टान्त देखेंगे, जिन परसे ऐसा कहा जा सकता है कि जीवके स्वरूप आदिके बारेमें केवलाद्वैतवादमें जितने मतभेद दिखाई पड़ते हैं उतने मतभेद दूसरी किसी वेदान्त विचारधारामें पैदा नहीं हुए। यहाँ यह भी ध्यानमें रखना आवश्यक है कि प्रत्येक व्याख्याकारने अपनी-अपनी मान्यता अथवा कल्पनाको सिद्ध करनेके लिए मुख्य रूपसे श्रुतियोंका ही आश्रय लिया है।

गंगाधर सरस्वती नामके विद्वान्ने वेदान्तसिद्धान्तसूक्तिमंजरी नामक एक कारिकाग्रन्थ लिखा है। उस पर अप्पय दीक्षितकी सिद्धान्तलेश-संग्रह नामकी एक व्याख्या है। इस मूल एवं व्याख्यामें केवलाद्वैतीके जीवविषयक प्रायः सभी मतभेद संगृहीत हैं और उनकी चर्चा भी है। उनमेंसे हम यहाँ तो मुख्य-मुख्य ही लेंगे।

१. **प्रतिबिम्बवाद**—प्रकटार्थकार, संक्षेपशारीरककार, विद्यारण्य-स्वामी तथा विवरणकार जैसे आचार्य अपने-अपने ढँगसे ब्रह्मके प्रतिबिम्बरूपसे जीवका वर्णन करते हैं। कोई वैसा प्रतिबिम्ब अविद्यागत मानता है, दूसरा कोई अन्तःकरणगत तो तीसरा कोई अज्ञानगत स्वीकार करता है। इस तरह भिन्न भिन्न रूपसे इस प्रतिबिम्बवादका समर्थन

किया गया है। (वेदान्तसूक्तिमंजरी, प्रथम परिच्छेद, का. २८-४०)

२. **अवच्छेदवाद**—दूसरे कोई आचार्य प्रतिबिम्बके स्थानमें अवच्छेद पद रखकर कहते हैं कि अन्तःकरण आदिमें प्रतिबिम्बित ब्रह्म जीव नहीं है, पर अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्म ही जीवका स्वरूप है। (वही का. ४१)

३. **ब्रह्मजीववाद**—यह वाद कहता है कि जीव न तो ब्रह्मका प्रतिबिम्ब है और न उसका अवच्छेद ही, किन्तु अविकृत ब्रह्म स्वयं ही अविद्याके कारण जीव है और विद्याके कारण ब्रह्म है। (वही का० ४२) इस तरह जीवके स्वरूपके बारेमें प्रतिबिम्ब, अवच्छेद और ब्रह्माभेद ये तीन पक्ष मुख्य रूपसे प्रचलित हैं।

केवलाद्वैतवादियोंमें जीव एक है या अनेक—इस प्रश्नकी भी चर्चा हुई है। किसीने एक ही जीव मानकर एक ही शरीरको सजीव कहा और अन्य शरीरको निर्जीव कल्पित किया, तो दूसरेने जीवके एक ही होने पर भी दूसरे शरीरोंको सजीव भी कल्पित किया और तीसरेने तो जीव ही अनेक माने। इस तरह चर्चा काफ़ी फैली। (वही का० ४३-४) इस फैलावको मधुसूदन सरस्वतीने सिद्धान्तबिन्दुमें और सदानन्दने वेदान्तसारमें एकदम संक्षिप्त कर दिया है।

भास्कर कहते हैं कि ब्रह्म अपनी विविध शक्तियोंके द्वारा, जगत्की भाँति, जीवके रूपमें भी परिणत होता है। जीव ब्रह्मके परिणाम हैं और वे क्रियात्मक अर्थात् सत्य उपाधिसे जनित होनेसे सत्य हैं। ब्रह्म एक होने पर भी उसके परिणाम अनेक हो सकते हैं। भास्करमतके अनुसार एकत्व एवं अनेकत्वके बीच विरोध नहीं है। जैसे एक ही समुद्र तरंगोंके रूपमें अनेक दिखाई पड़ता है, वैसे ही जीव ब्रह्मके अंश एवं परिणाम हैं और जबतक अज्ञान होता है तभी तक उनका

वास्तविक अस्तित्व है। अज्ञान निवृत्त होने पर वे अणुपरिमाण जीव ब्रह्माभेदका अनुभव करते हैं।

रामानुज विशिष्टाद्वैतका प्रतिपादन करते समय जगत्‌की भाँति जीवका भी मूलमें ब्रह्मके अव्यक्त शरीरके रूपमें वर्णन करके उस अव्यक्तको ही अनुक्रमसे व्यक्त जीव और व्यक्त प्रपंचके रूपमें घटाते हैं। अव्यक्त चिच्छक्ति व्यक्त-जीव रूप प्राप्त करे और प्रवृत्ति भी करे—यह सब परब्रह्म नारायणके ही कारण होता है। सूक्ष्म एवं स्थूल अचित् या चित् इन दोनोंमें परब्रह्म तो व्याप्त होकर रहता ही है।

निम्बार्क स्वाभाविक भेदाभेदवादी होनेसे द्वैताद्वैतवादी कहलाते हैं। वह परब्रह्मको अभिन्नस्वरूप मानने पर भी उसका अनन्त जीवोंके रूपमें परिणाम मानते हैं। एक ही वायु जैसे स्थानभेदसे नानारूपमें परिणत होती है वैसे ही ब्रह्म भी अनेक जीवोंके रूपमें परिणत होता है। ये जीव काल्पनिक या आरोपित नहीं हैं।

विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि प्रकृतिकी भाँति पुरुष अर्थात् जीव अनादि व स्वतंत्र हैं, फिर भी वे ब्रह्मसे अलग नहीं रह सकते। सभी जीव ब्रह्ममें अविभक्त रूपसे रहते हैं और उसीकी शक्तिसे संचालित होते हैं। यह अविभागाद्वैत है।

वल्लभ कहते हैं कि जीव भी जगत्‌की भाँति ब्रह्मके वास्तविक परिणाम हैं। ऐसे परिणाम लीलावश उत्पन्न होते हैं, तो भी ब्रह्म स्वयं अविकृत और शुद्ध ही रहता है। यह हुआ शुद्धाद्वैत।

चैतन्य भी कहते हैं कि जीव-शक्तिके द्वारा ब्रह्म अनन्त जीवोंके रूपमें प्रकट होता है। उन जीवोंका ब्रह्मके साथ भेदाभेद है, परन्तु वह अचिन्तनीय है। यह हुआ अचिन्त्यभेदाभेद।

भास्करसे लेकर चैतन्य तकके सभी वादोंके अनुसार जीव अणुरूप है और ज्ञान एवं भक्ति आदि द्वारा अज्ञानका जब नाश होता है तब वह मुक्त बनता है। मुक्तिदशामें एक या दूसरे रूपमें वह ब्रह्मके सान्निध्यका अनुभव करता है। ये सभी अणुजीववादी आचार्य पुनर्जन्मकी उपपत्ति सूक्ष्म शरीर द्वारा घटाते हैं।

मध्व वेदान्ती होने पर भी किसी भी प्रकारके अद्वैत या अभेदका आश्रय लेते ही नहीं है। वह उपनिषद् एवं अन्य ग्रन्थोंके आधार पर ऐसा स्थापित करते हैं कि जीव हैं तो अणु और अनन्त, परन्तु वे स्वतंत्र एवं नित्य होनेसे न तो परब्रह्मके परिणाम हैं, न कार्य और न अंश ही। जीव जब अज्ञानसे मुक्त होते हैं उस समय भी वे ब्रह्म या विष्णुके स्वामित्वका अनुभव करते हैं।

वेद एवं वेदान्तका आधार लिए बिना ही स्वतंत्र रूपसे विचार करनेवाले शैवोंमें एक प्रत्यभिज्ञादर्शन भी है। उसका कहना है कि परब्रह्म ही शिव है और उससे दूसरा कोई उत्तम नहीं है, अतः वह 'अनुत्तर' भी कहलाता है। यह अनुत्तर ब्रह्म ही अपनी इच्छासे जगत्‌की भाँति अनन्त जीवोंको भी प्रकट करता है। वे जीव तत्त्वतः शिवसे अभिन्न ही हैं।

व्याख्यान ५

ईश्वरतत्त्व

हमने जीवतत्त्वके बारेमें थोड़ा-सा विचार किया। तत्त्वज्ञानमें अचेतन तथा चेतन जीव एवं ईश्वर आदि अनेक तत्त्वोंकी चर्चा आती है; परन्तु एक तरहसे इस सारी चर्चाका मध्यबिन्दु चेतन या जीव तत्त्व है। प्रत्येक तत्त्व स्वस्वरूपमें अस्ति हो, तो भी उसका ज्ञान, उसकी विचारणा, उसका उपयोग और उपभोग—यह सब जीवके कारण ही शक्य है। वस्तुतः तत्त्वमात्रका मूल्यांकन जीवकी चेतनाके कारण ही है। चेतना, ज्ञानशक्ति और जीवनव्यापार—ये जीव या आत्मतत्त्वकी क्रमिक अथवा विकसित अवस्थाएँ हैं। अतएव चेतन केवल अचेतन वस्तुओंका विचार तथा उपयोग एवं उपभोग करके ही सन्तुष्ट नहीं रह सकता। उसमें एक ऐसी निगूढ़ शक्ति है जो उसे अपनेसे अधिक श्रेष्ठ एवं अधिक शिव तत्त्वकी ओर आकर्षित करती है। इस आकर्षणमेंसे ही ईश्वरतत्त्वका विचार अस्तित्वमें आया है और दार्शनिकों, सूक्ष्मचिन्तकों एवं आध्यात्मिक साधकोंने उसका विकास किया है तथा जीवनमें उसे आत्मसात् भी किया है।

प्रास्ताविक

कुतूहल या आश्चर्यमूलक सृष्टिके कारणकी जिज्ञासा, भय एवं त्रासमेंसे त्राण पानेकी तथा स्थायी सुख प्राप्त करनेकी अभिलाषा, महत् आलम्बनके प्रति आकृष्ट होनेकी सहज वृत्ति और उसका अवलम्बन लेकर आध्यात्मिक प्रगति करनेकी भावना, महत् एवं अगम्यको सर्वार्पण करनेकी

आतुरता और उसके साथ साम्य या अभेद साधनेकी वृत्ति—ये तथा इनके जैसे दूसरे अनेक बल चेतन या जीवमें क्रमशः या एक साथ उदयमान होते हैं। इसके परिणामस्वरूप ईश्वरकी मान्यता अनेक स्वरूपोंमें अस्तित्वमें आती है। मानवजातिमें कोई ऐसा वर्ग नहीं है जो एक या दूसरे रूपमें, एक या दूसरे नामसे अपनेसे श्रेष्ठ तत्त्वका स्वीकार किये बिना आश्वासन पा सकता हो। यहाँ पर तो ईश्वर विषयक मान्यताका विचार मुख्यतः दार्शनिक परम्पराओंके आधार पर ही किया जायगा, अतः उसकी एक मर्यादा है।

पहले कहा जा चुका है कि कई दार्शनिक अचेतन-बहुत्ववादी हैं, तो दूसरे अचेतन-एकत्ववादी हैं। इसी प्रकार कई चेतन-बहुत्ववादी हैं, तो दूसरे एक-चेतनवादी भी हैं। इनमेंसे जो अचेतन (अजीव) और चेतन (जीव) का बहुत्व स्वीकार करते हैं उन्होंने तो ईश्वरको अचेतन और चेतन दोनोंसे भिन्न एक अनादि-अनन्त स्वतन्त्र तत्त्वके रूपमें ही माना है। इसमें जो अपवाद है वह जैन, बौद्ध एवं सांख्यके एक विशिष्ट प्रकारका। जो मूलमें ही एकतत्त्ववादी हैं उन्होंने तो जीवकी भाँति ईश्वरतत्त्वका विचार भी उस मूलके साथ ही घटाया है। अब इस विषयमें विशेष स्पष्टीकरण करें।

ऐसा लगता है कि स्वतंत्र ईश्वरतत्त्वकी मान्यता बहुत प्राचीन है और इसलिए सामान्य लोगोंमें वह रूढ़ भी हो गई है। जिस मान्यताके मूल लोगोंमें अधिक गहरे गए हों वह दार्शनिकों एवं तत्त्वचिन्तकोंको भी विचार करनेके लिए प्रेरित करती है। इसीलिए ऐसा सम्भव है कि ईश्वरकी मान्यताके बारेमें दार्शनिकोंने बहुत पहले ही से विचार किया हो।

ईश्वर विषयक माहेश्वर मत

सिन्धु-संस्कृतिके अवशेषोंमें पाशुपत जैसे किसी सम्प्रदायके प्रतीक

मिलते हैं[1] और आज भी ईश्वरके रूपमें महेश्वर, रुद्र एवं शिवका नाम अधिक व्यापक है। जिन चार प्रकारके माहेश्वरोंका वर्णन और साहित्य मिलता है उसपरसे इतना तो सिद्ध है कि माहेश्वर किसी-न-किसी नामसे तथा किसी-न-किसी रूपमें महेश्वरको मानते रहे हैं। ये सब अचेतन और जीवका बहुत्व माननेवाले ही हैं। उनमें कई ऐसे भी हैं जो ईश्वरको जगत्कारण मानने पर भी जीव-कर्म-निरपेक्ष और इसीलिए पूर्ण स्वतंत्र कारणके रूपमें उसकी कल्पना करते हैं, तो दूसरे ऐसे भी हैं जो पूर्ण स्वतंत्र कारणके रूपमें कल्पना न करके जीव-कर्मसापेक्ष कर्ताके रूपमें उसकी कल्पना करते हैं। इस तरह माहेश्वरोंमें दो मुख्य विचारसरणियाँ हैं[2]।

ईश्वर विषयक न्याय-वैशेषिक दृष्टि

न्याय-वैशेषिक परम्परा भी चेतन-अचेतन-बहुत्ववादी है। कणादके सूत्र अधिक प्राचीन हैं, पर उनमें ईश्वरतत्त्वकी कोई स्पष्ट चर्चा नहीं आती। उन पर प्रशस्तपादका जो भाष्य है वह उनकी उपलब्ध व्याख्याओंमें सबसे अधिक प्राचीन है। इस भाष्यमें महेश्वरका सृष्टिके कर्ता और संहर्ताके रूपमें विस्तृत वर्णन आता है[3] और साथ ही उसमें

---

१. इस विषयमें इन्डियन हिस्ट्री कॉन्ग्रेस, आगरा-अधिवेशनके अध्यक्ष श्री. टी. एन. रामचन्द्रन्के भाषणके पृ० ५ से १० खास द्रष्टव्य हैं।

२. ननु महदेतदिन्द्रजालं यन्निरपेक्षः परमेश्वरः कारणमिति। तथात्वे कर्मवैफल्यं सर्वकार्याणां समसमयसमुत्पादश्चेति दोषद्वयं प्रादुःष्यात्। मैवं मन्येथाः।
—सर्वदर्शनसंग्रहगत नकुलीशपाशुपतदर्शन पृ० ६५

तमिमं परमेश्वरः कर्मादिनिरपेक्षः कारणमिति पक्षं वैषम्यनैर्घृण्यदोष-दूषितत्वात्प्रतिक्षिपन्तः केचन माहेश्वराः शैवागमसिद्धान्ततत्त्वं यथावदीक्षमाणाः कर्मादिसापेक्षः परमेश्वरः कारणमिति पक्षं कक्षीकुर्वाणाः पक्षान्तरमुपक्षिपन्ति।
—सर्वदर्शनसंग्रहगत शैवदर्शन पृ० ६६

३. प्रशस्तपादभाष्यगत सृष्टिसंहारप्रक्रिया।

यह भी सूचित है कि वह महेश्वर प्राणियोंके शुभाशुभ कर्मके अनुसार सर्जन-संहार करता है। वैशेषिकदर्शनमें महेश्वरकी कर्ताके रूपमें प्रतिष्ठा प्रशस्तपादसे हुई हो—ऐसे सम्भवकी कल्पना की जा सकती है। वैशेषिक-दर्शनका समानतंत्र न्यायदर्शन है। न्यायके सूत्रकार अक्षपादने भी ईश्वरकी चर्चा संक्षेपमें की है[१], परन्तु उसके भाष्यकार वात्स्यायनने यह चर्चा अधिक विशद रूपमें की है। भाष्यके व्याख्याकारोंमें उद्द्योतकर और वाचस्पति मिश्रका स्थान अत्यन्त असाधारण है। इन दोनोंने ईश्वरके स्वतंत्र व्यक्तित्व तथा उसके कर्तृत्वकी ऐसी तो प्रबल स्थापना की है कि मानो वह सर्वसाधारण लोगोंमें प्रचलित एवं रूढ़ कर्तृत्ववाद विषयक युक्तियों व दलीलोंका दार्शनिक एवं तार्किक परिष्कृत रूप ही हो।

वात्स्यायन, उद्द्योतकर और वाचस्पति मिश्रने ईश्वरकी मात्र सृष्टिके कर्ता एवं नियन्ताके रूपमें ही स्थापना नहीं की, अपितु उन्होंने मूल सूत्रोंके ऊपरसे ही यह स्पष्ट किया है कि ईश्वर जगत्का स्रष्टा है; पर वह जीव-कर्मसापेक्ष, नहीं कि निरपेक्ष। इस परसे ऐसा कहा जा सकता है माहेश्वरोंमें कर्मसापेक्षकर्तृत्व और कर्मनिरपेक्षकर्तृत्वका जो मतभेद था वह शायद उनके सामने रहा हो और उसीमेंसे उन्होंने कर्मसापेक्षकर्तृत्ववादका अधिक सबल रूपसे संगत समर्थन किया हो।

यहाँ एक दूसरी बात भी तुलना करने जैसी है। वह यह कि कई चिन्तक ईश्वरको कर्ता तो मानते रहे, पर उसकी स्थापना वे तर्क या अनुमान बलसे मुख्यतया करते रहे, जब कि दूसरे उसकी स्थापनामें मुख्य रूपसे आगमका ही आधार लेते रहे और कहते रहे कि अनुमानसे

---

१. ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्।
न पुरुषकर्म्माभावे फलानिष्पत्तेः।
तत्कारितत्वादहेतुः।

—न्यायसूत्र ४. १. १९-२१

उसकी निर्विवाद स्थापना नहीं की जा सकती, क्योंकि दूसरे अनीश्वरवादी जब अपने समर्थ अनुमानसे विरोध करे तब ईश्वरसाधक अनुमान सबल नहीं रह सकता। इस तरह ईश्वरके कर्तृत्वकी स्थापनामें कोई अनुमानका, तो कोई आगमका आश्रय लेता रहा और फिर पूरकके तौरपर इतर प्रमाणोंका उपयोग भी करता रहा। नकुलीश, पाशुपत और शैवोंमें इसी मुद्देके बारेमें मतभेद है। इनमेंसे न्यायपरम्परा मुख्यतया ईश्वरके कर्तृत्वस्थापनमें अनुमानावलम्बी रही है, यह बात उद्द्योतकर और वाचस्पति बहुत स्पष्ट करते हैं।

न्याय-वैशेषिक परम्परामें ईश्वरकी स्वतन्त्र व्यक्तिके रूपमें तथा कर्ता एवं नियन्ताके रूपमें इतनी अधिक समर्थ स्थापना हुई है और इस विषयमें इतने अधिक चिन्तन एवं तर्कपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये हैं कि मानो उन्हींके कारण दूसरे दार्शनिकोंने इस विषयमें अपने-अपने अनुकूल या प्रतिकूल विचारोंसे समृद्ध ऐसे विशाल साहित्यका निर्माण किया है। न्याय-वैशेषिक परम्परामें सबसे अग्रगण्य व्यक्ति है उदयन। उदयनने तो न्यायकुसुमांजलिकी रचना केवल ईश्वरकी स्थापनाके लिये ही की है और उसमें उसने अपने ढँगसे सब अनीश्वरवादियोंको जवाब देकर अन्तमें महेश्वरकी कर्ता एवं नियन्ताके रूपमें स्थापना की है। इस परसे और दूसरे कई कारणोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि न्याय-वैशेषिक परम्परा तथा माहेश्वर एवं पाशुपत आदि परम्पराओंका आन्तरिक सम्बन्ध अधिक रहा है।

ईश्वर विषयक सांख्य-योग परम्परा

न्याय-वैशेषिकके अनन्तर सांख्य-योग और मध्व परम्पराका हम क्रमशः विचार करें। सांख्य-योग परम्परा मात्र चौबीस या पच्चीस तत्त्व ही नहीं मानती; वह तो छब्बीस तत्त्व भी स्वीकार करती है।

उसमें जैसे स्वतन्त्र पुरुषबहुत्वका स्थान है वैसे ही स्वतन्त्र पुरुषविशेष ईश्वरका भी स्थान है। उपलब्ध पातंजलसूत्रसे पहले भी सांख्य-योग परम्पराके अनेक ग्रन्थ थे और हिरण्यगर्भ[1] अथवा स्वयंभूके[2] नामसे योगमार्ग भी प्रसिद्ध था। उस योगमार्गमें भी स्वतन्त्र ईश्वरतत्त्वका स्थान था ही। परन्तु आज यह निश्चित करना सरल नहीं है कि वे सब पुरुषविशेषरूप ईश्वरको केवल साक्षी, उपास्य या जप्यरूप ही मानते थे या न्यायवैशेषिककी भाँति स्रष्टा एवं संहर्ताके रूपमें भी उसकी स्थापना करते थे। उपलब्ध पातंजलसूत्रों परसे तो सीधे तौर पर इतना ही फलित होता है कि योग परम्परामें ईश्वरका स्थान साक्षी या उपास्य के रूपमें रहा है[3]। परन्तु जब हम इन सूत्रोंका भाष्य पढ़ते हैं तब स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ईश्वरको उद्धारकके रूपमें भी मानते हैं। वह कहते हैं कि ईश्वरका प्रयोजन भूतानुग्रह है। वह ज्ञान एवं धर्मके उपदेशसे समग्र प्राणियों का उद्धार करनेका संकल्प करता है। ऐसा संकल्प वह सत्त्वगुणके प्रकर्षके आधार पर करता है[4]। यद्यपि व्यासने अपने कथनमें ऐसा स्पष्ट नहीं कहा कि वह पुरुषविशेष ईश्वर कर्ता या संहर्ता भी है, फिर भी यह तो स्पष्ट ही कहा है कि वह प्राणियोंका उद्धारक है ही। इस तरह भाष्यमें ईश्वरकी उद्धारकता प्रविष्ट होते ही उसके व्याख्याकारोंको, ख़ास तौर पर वाचस्पति मिश्र और विज्ञानभिक्षु जैसोंको, अपने-अपने मन्तव्य स्पष्ट करनेका अनुकूल अवसर मिला। फलतः उन्होंने भाष्यका व्याख्यान

1. Origin and Development of Sāṃkhya System of Thought pp. 49 etc.

2. Buddhist Logic Vol. I, pp 17 & 20.

३. योगसूत्र १. २३–९।

४. प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः।—योगभाष्य १. २४
तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्।—योगभाष्य १.२५

करते समय अपने-अपने ढंगसे, किन्तु समर्थरूपसे, स्थापित किया कि योगसम्मत यह ईश्वर सृष्टिका कर्ता भी है। उनकी यह स्थापना मुख्यतः आगमप्रमाणके आधार पर हुई है।

ईश्वर विषयक मध्व दृष्टि

मध्व परम्परा यद्यपि वेदान्तीके रूपमें प्रसिद्ध है और ब्रह्मसूत्र जैसे औपनिषद ग्रन्थोंके आधार पर अपने मन्तव्योंकी स्थापना करती है, तथापि यह दूसरी सब वेदान्ती अथवा औपनिषद परम्पराओंसे सर्वथा अलग-सी पड़ जाती है। इसका तत्त्वज्ञान देखनेसे तो ऐसा ज्ञात होता है कि इस पर मुख्य रूपसे प्रभाव न्यायवैशेषिक तत्त्वज्ञानका पड़ा है। परन्तु ऐसा मालूम होता है कि उपनिषदोंकी बढ़ी हुई तथा बढ़ती जाती प्रतिष्ठाको लेकर इसने उसका उपयोग अपने ढँगसे किया है, और वह ढँग अर्थात् न्याय-वैशेषिक परम्पराके अनुसार अचेतन परमाणु और चेतन जीवके वास्तविक बहुत्वके अतिरिक्त सर्वथा स्वतंत्र ईश्वरका एक व्यक्तिके रूपमें स्थापन करना। यद्यपि इस परम्पराने ईश्वरका निर्देश ब्रह्म या विष्णु जैसे पदसे किया है, फिर भी स्वरूपकी दृष्टिसे इस परम्परा द्वारा मान्य ईश्वर न्याय-वैशेषिक या सांख्य-योग सम्मत कर्ता ईश्वर जैसा ही प्रतीत होता है। मध्व परम्परा ईश्वरका सृष्टिके कर्ता एवं संहर्ताके रूपमें वर्णन करती है और प्राणियोंके धर्म-अधर्मके अनुसार वह सृष्टिका निर्माण करता है ऐसा भी कहती है। इस तरह देखने पर जैसे न्याय-वैशेषिक परम्परा ईश्वरको प्राणिकर्मसापेक्ष कर्ता मानती है वैसे मध्व परम्परा भी मानती है। इतना फर्क ज़रूर हैं कि मध्व स्वाभिमत ईश्वरको ब्रह्म कहकर उसका वर्णन ब्रह्मसूत्रमेंसे भी फलित करते हैं, जब कि न्याय-वैशेषिक परम्परा ईश्वरकी स्थापनामें किसी ब्रह्मसूत्र या उपनिषदका आधार नहीं लेती। इससे ऐसा भी कहा जा सकता है कि

मध्व परम्पराके ईश्वरकर्तृत्ववादको मुख्य आधार उपनिषदोंका होनेसे वह आगमावलम्बी है।

जीवबहुत्ववादी परम्पराका ईश्वर विषयक विचार यहाँ चल रहा है, अतः वैसी ही दूसरी परम्पराओं, जो ईश्वरवादी नहीं हैं, का विचार यहाँ करना उपयुक्त प्रतीत होता है। पूर्वमीमांसक, सांख्य, जैन और बौद्ध परम्पराएँ भी स्वतंत्र-जीवबहुत्ववादी हैं, परन्तु ये जीवसे भिन्न किसी ईश्वरतत्त्वको कर्ता नहीं मानतीं। ये चारों ही परम्पराएँ पुनर्जन्म एवं परलोकवादी होने पर भी जीवके भावीमें ईश्वरका कोई स्थान स्वीकार नहीं करतीं। इसका क्या रहस्य है यह जाननेसे ईश्वरकर्तृत्ववादी परम्पराओंके साथ उनके विचारभेदका मूल यथावत् समझमें आ सकेगा।

ईश्वर विषयक पूर्वमीमांसक दृष्टि

सर्वप्रथम हम पूर्वमीमांसक परम्परा लें। यह मोक्षके विषयमें विचार ही नहीं करती, केवल वर्तमान लोक और स्वर्गादि परलोक इन दोके बारेमें ही यह विचार करती है। दोनोंमें जो कुछ प्राप्तव्य सिद्ध करना हो उसके साधनके तौर पर यह परम्परा यज्ञादि कर्मकाण्ड पर आधार रखती है। वैसे कर्मकाण्डमें वैदिक मंत्र एवं समुचित विधि-प्रक्रिया तथा होता आदि पुरोहितोंका ही मुख्य स्थान है। जो यथाविधि यज्ञ आदि कर्म करता है वह इष्ट फल पाता है। अतएव इस मान्यतामें फलेच्छु पुरुषोंके कर्तृत्वका ही स्थान है और वैसा कर्तृत्व जीवोंमें है ही। इसीलिए इस परम्परामें ईश्वरकी कृपा या अनुग्रहका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इसीसे इसमें ईश्वरकर्तृत्वका विचार भी अप्रस्तुत है। इस परम्परामें जो कुछ मुख्य कर्तृत्व है उसका अन्तमें वेदाज्ञामें समावेश होता है। अर्थात् वैदिक आज्ञाके अनुसार किया गया कर्म ऐसा तो शक्तिसम्पन्न होता है कि स्वयं ही पुरुषके इष्ट फलका जनक

बनता है। अतः इस परम्परामें मंत्र, देवता, विधिवत् कर्म और सामग्रीजन्य शक्ति—ये ही ईश्वरके कर्तृत्वका स्थान लेते हैं।[1]

ईश्वर विषयक सांख्य, जैन एवं बौद्ध दृष्टियाँ

परन्तु पच्चीस तत्त्ववादी सांख्य तथा जैन और बौद्ध परम्पराओंकी स्थिति इससे बिलकुल भिन्न है। ये तीनों परम्पराएँ स्वर्गादिके अतिरिक्त मोक्ष भी मानती हैं, और उसे ही मुख्य पुरुषार्थ समझती हैं। ऐसा होने पर भी ये मोक्षकी सिद्धिमें या दूसरे किसी भी प्रकारके फलकी सिद्धिमें स्वतंत्र ईश्वरके स्थानकी कल्पना नहीं करतीं। ये तीनों परम्पराएँ पुरुषार्थवादी हैं। ये श्रद्धा, नियति और अदृष्ट जैसे पदार्थोंको मानती हैं अवश्य, परन्तु ये तत्त्व साधक जीवके पुरुषार्थके अधीन रहकर उपयोगी बनते हैं। ये परम्पराएँ ऐसा मानती हैं कि आत्मा, जीव या पुरुष स्वयं ऐसी शक्ति रखता है कि जिससे वह जैसा चाहे वैसा भावी निर्माण कर सकता है। वह जिस तरह अज्ञान और क्लेशकी वासनाके वशीभूत होता है, उसी तरह पुरुषार्थके बल पर वह ज्ञान और निर्मोहताकी पराकाष्ठा भी सिद्ध करता है। उसके पुरुषार्थकी दिशा ऊर्ध्वगामी होते ही उसमें रहे हुए श्रद्धा, नियति और अदृष्ट आदि तत्त्व उसे उसी दिशामें उपकारक बनते हैं। अतः इन परम्पराओंमें जीवोंमें इतना अधिक स्वातंत्र्य माना गया है कि उन्हें अपने सिवाय कर्ताके रूपमें दूसरे किसीके अनुग्रहकी आवश्यकता नहीं रहती।

इन तीन परम्पराओंमें भी एक महत्त्वका मतभेद है, जिस पर ध्यान देना ज़रूरी है। सांख्य परम्परा पुरुषार्थवादी तो है,

---

१. शबरभाष्य २. १. ५ आदि। इसके अतिरिक्त कुमारिलके दूसरे अवतरणोंके लिए देखो न्यायावतारवार्तिकवृत्ति पृ. १७९ तथा उसके पादटिप्पण।

पर उसमें पुरुष, चेतन या जीवके पुरुषार्थको कोई स्थान ही नहीं है; जो पुरुषार्थ है वह प्रकृति या अचेतन तत्त्वका है। प्रकृति ही सृष्टिका उपादान और कर्त्री-नियन्त्री है। वह अपना समग्र व्यापार कूटस्थ चेतनके द्विविध भोगके लिए करती है। इन्द्रियजन्य ज्ञान और विवेकख्याति ये दोनों भोग प्रकृति पुरुषके लिए सिद्ध करती है। वस्तुतः ये भोग भी प्रकृतिके ही हैं। पुरुषोंमें तो इसका उपचार मात्र है। अतः सांख्य परम्परामें प्रकृतितत्त्वका कर्तृत्व और सृष्टि-संहारकारित्व इतना अधिक पूर्ण माना गया है कि उसकी वजहसे कूटस्थनित्य चेतनका स्वीकार होने पर भी जैसे उसमें कर्तृत्व या भोक्तृत्वके लिए कोई अवकाश नहीं रहता, वैसे ही ईश्वरतत्त्वके कर्तृत्वकी तो बात ही क्या, उसकी मान्यताके लिए भी अवकाश नहीं रहता। अलबत्ता, कोई-कोई विचारक ऐसे भी हुए हैं जो ऐसा मानते थे कि सांख्य परम्परा ईश्वरतत्त्वका सर्वथा निषेध नहीं करती। उसका तो कहना इतना ही है कि मोक्षके साधनभूत विवेकख्यातिकी प्राप्तिमें ईश्वरकी कोई आवश्यकता नहीं है[1]। परन्तु सचमुच देखा जाय तो पच्चीस तत्त्ववादी सांख्य परम्परामें ईश्वरतत्त्वके लिए स्थान ही नहीं घट सकता।

अब जैन-बौद्ध परम्पराके बारेमें विचार करें। ये दोनों परम्पराएँ सांख्यकी भाँति कूटस्थनित्य चेतनवादी नहीं हैं। दोनों जीव या चित्ततत्त्वमें सहज सद्गुणका विकास मानती हैं। अचेतन या रूपतत्त्व

---

१. विज्ञानभिक्षुने सांख्यप्रवचनभाष्यकी प्रस्तावनामें यही बात कही है—"'ब्रह्ममीमांसाया ईश्वर एव मुख्यो विषय उपक्रमादिभिरवधृतः। तत्रांशे तस्य बाधे शास्त्रस्यैवाप्रामाण्यं स्याद्, यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति न्यायात्। सांख्यशास्त्रस्य तु पुरुषार्थतत्साधनप्रकृतिपुरुषविवेकावेव मुख्यो विषय इतीश्वरप्रतिषेधांशबाधेऽपि नाप्रामाण्यम्, यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति न्यायात्। अतः सावकाशतया सांख्यमेवेश्वरप्रतिषेधांशे दुर्बलमिति।

जीव या चित्ततत्त्वके सद्गुणोंके विकासकी दशामें उपकारक तो हो सकता है, परन्तु विकासका मूलगत बीज तो जीव, चेतन या चित्तमें ही रहा हुआ है। जो साधक इस बीजको पूर्णरूपसे विकसित करके सिद्धि पाते हैं वे सब स्वयं ही पूर्ण होनेसे ईश्वर हो जाते हैं। इनसे भिन्न कोई ऐसा ईश्वर नहीं है जो सृष्टिसंहार भी करता हो या तटस्थ साक्षी भी हो। साधक साधनाकी अवस्थामें या अपूर्ण अवस्थामें किसी-न-किसी आलम्बनकी अपेक्षा रखते हैं। वैसा आलम्बन, इन दोनों परम्पराओं के अनुसार, स्वप्रयत्नसे पूर्णताप्राप्त सिद्ध या बुद्ध ही हो सकता है और जो ऐसा आलम्बन लेकर पूर्णता प्राप्त करते हैं वे भी पुनः दूसरे साधकोंके लिये आलम्बनका काम दे सकते हैं। इस जैन और बौद्ध परम्पराओंके अनुसार सिद्ध, मुक्त और बुद्ध आत्मा या चित्त ही ईश्वर अथवा परमात्मा है।

मीमांसक, सांख्य, जैन और बौद्ध ये चारों हो परम्पराएँ विश्वमें परिवर्तन तो मानती हैं, परन्तु विश्व किसी समय प्रथम उत्पन्न हुआ ऐसा वे नहीं मानतीं और इसीलिए वे विश्वके सर्जनमें भी ईश्वरकर्तृत्वको अवकाश नहीं देतीं। ऊपरकी चर्चाका सार यही है कि मीमांसक अपनी दृष्टिसे जिस प्रकार कर्मवादी हैं उसी प्रकार सांख्य, जैन एवं बौद्ध भो कर्मवादी ही हैं। कर्म करनेका और उसका फल भोगनेका सामर्थ्य स्वयं अपनेमें ही है। इसीसे कर्म करनेमें या उसका फल भोगनेमें ईश्वरकर्तृत्ववादी जैसा ईश्वरकी प्रेरणाको स्थान देते हैं वैसा ये परम्पराएँ नहीं देतीं। ये कहती हैं कि कृत कर्मका परिपाक होने पर वह स्वयं ही स्वसामर्थ्य से फल देता है, और समग्र विश्व-वैचित्र्य कर्माधीन है[1]। सांख्य परम्परामें प्रकृतिके पूर्ण कर्तृत्वका जो स्थान है वही जैन और बौद्ध परम्परामें जीव या चित्तके कर्तृत्वका है।

---

१. कर्मजं लोकवैचित्र्यम्। —अभिधर्मकोष ४. १

ईश्वरके बारेमें पूर्वनिर्दिष्ट दृष्टियोंके मुख्य-मुख्य मुद्दे

हम ब्रह्मवादी औपनिषद दर्शनोंकी ईश्वर-विषयक मान्यताका विचार करें उससे पहले ऊपर भिन्न-भिन्न दर्शनोंको लेकर जो चर्चा की है उसके मुख्य मुद्दे जान लेना जरूरी है जिससे यह समझना आसान हो जाय कि औपनिषद दर्शनोंकी मान्यतामें वे ही मुद्दे कहाँ और किस तरह अपनाये गये हैं। न्याय-वैशेषिक, पाशुपत-माहेश्वर, सांख्य-योग और मध्व ईश्वरको जब कर्ता मानते हैं तब उनकी मान्यतामें पहली बात यह है कि ईश्वर केवल निमित्त या अधिष्ठायक कारण है, नहीं कि उपादान कारण। वैसा कर्तृत्व या निमित्तकारणतत्त्व भी किसीके मतसे प्राणिकर्मसापेक्ष है, तो दूसरेके मतसे प्राणिकर्मनिरपेक्ष है। ऐसे कर्तृत्वकी सिद्धि कोई मुख्यतः अनुमान प्रमाणसे करके आगमका आधार लेता है तो दूसरा कोई वैसी सिद्धि प्रधानरूपसे आगमका अवलम्बन लेकर करता है और तर्कको केवल उसका उपोद्बलक मानता है। छब्बीस तत्त्ववादी सांख्य-योग जब पुरुषविशेषको ईश्वर कहते हैं, तब भी वह प्रकृष्ट सत्त्वके आश्रयसे ही प्राणियोंका उद्धारक पद प्राप्त करता है, परन्तु वैसे सत्त्वके आश्रयके बिना वह स्वतन्त्र रूपसे कुछ नहीं कर सकता।

चौबीस या पच्चीस तत्त्ववादी सांख्य तो एकमात्र मूल प्रकृतिका ही कर्तृत्व और नियामकत्व मानते हैं। वही स्वतन्त्र रूपसे पुरुषार्थके लिए प्रवृत्त होती है; अतः वह जगत्का जैसे उपादान है वैसे निमित्त-कारण भी है। जो शुभाशुभ कर्म बुद्धि द्वारा होता है वह स्वयं ही कालका परिपाक होने पर फल देता है[1]। इसके लिए किसी दूसरे

---

१. योगसूत्रके दूसरे पादके सूत्र १२-४ और उनके भाष्यमें कर्माशय एवं उसके विपाकका जो वर्णन आता है उस परसे ऐसा लगता है कि सांख्य-योग

प्रेरककी अपेक्षा नहीं रहती। जैन, बौद्ध और मीमांसक भी अपने-अपने ढँगसे जीव या पुरुषोपार्जित कर्मका ही ईश्वरनिरपेक्ष फलदान सामर्थ्य स्वीकार करते हैं। ब्रह्मवादी सिवायके दर्शनोंकी यह सामान्य विचारभूमिका है।

ईश्वरके विषयमें ब्रह्मवादी दर्शनोंकी दृष्टि

अब ब्रह्मवादी दर्शनोंके विषयमें विचार करें। वे सभी, मध्वके अतिरिक्त, सामान्यतः मूल-एकतत्त्ववादी हैं; परन्तु वह एक तत्त्व यानी सांख्यसम्मत प्रकृति या प्रधान नहीं, किन्तु उससे भिन्न ब्रह्मतत्त्व। प्रधानतत्त्व मूलमें अचेतन माना गया है, तो ब्रह्मतत्त्व मूलमें ही चिद्रूप माना गया है। ऐसा लगता है कि वेदके समयसे अनेकके आधाररूप किसी एक तत्त्वकी शोध तो चलती ही थी। यह शोध अनेक भूमिकाओंमेंसे गुजरकर उपनिषदोंमें आकर विराम पाती है और एक सच्चिदानन्दरूप मूलतत्त्व स्थापित होता है। परन्तु इन भूमिकाओंमें एक ऐसी भी भूमिका आई जान पड़ती है, जबकि मूलतत्त्वके रूपमें प्रधान जैसा भी एक तत्त्व माना गया हो और स्थापित हुआ हो। ये दोनों विचारधाराएँ मूलमें एकतत्त्ववादी तो हैं, परन्तु उन्हें अनुभवसिद्ध और सर्वलोकगम्य जड़-चेतनबहुत्वका स्पष्टीकरण भी अनिवार्यतः करना ही पड़ता है। इसीसे प्रधानवादी सांख्योंने प्रधानको स्वतन्त्र कर्ताका स्थान तो दिया, फिर भी पुरुषबहुत्व स्वीकार करके वास्तविक बहुत्वकी उपपत्ति की, तो मूल-एकब्रह्मतत्त्ववादियोंने ब्रह्मके सहकारी, उपाधि,

---

परम्पराकी कर्मगत फलदानशक्ति वहाँ वर्णित है। इसीसे विपाकके प्रसंगमें ईश्वर या वैसी किसी तटस्थ शक्तिका वहाँ निर्देश नहीं है, फिर भी प्रथम पादमें ईश्वरका निर्देश तो आता ही है। इससे सूचित होता है कि असलमें वह निर्देश साधनामें प्रणिधानके लिए होगा।

देखो गणधरवादकी प्रस्तावनाका 'कर्मविचार प्रकरण' पृ० १०९।

विशेषण आदि भिन्न-भिन्न नामोंसे इतर तत्त्वका स्वीकार किया। इस तरह दोनों विचारधाराएँ मूल-एकतत्त्ववादी होने पर भी अपने अपने ढँगसे बहुत्व एवं नानात्वकी उपपत्ति करती ही रहीं प्रकृतिवादी सांख्य प्रकृतिका स्वतन्त्र कर्तृत्व जैसे तर्कसे स्थापित करते थे वैसे ही कितनेक प्रकृतिवादी वैसी स्थापनामें उपनिषदोंका भी उपयोग करते थे।[1] उनकी दृष्टिसे प्रकृतिका ही मुख्य कर्तृत्व और पुरुष तो मात्र उदासीन-कर्तृत्व-भोक्तृत्वशून्य था। इसके सामने ब्रह्मवादियोंका प्रबल विरोध था कि चाहे जैसा हो फिर भी प्रधानतत्त्व तो आख़िरकार अचेतन ही है, और अचेतन ऐसे बहुविध और अचिन्त्य रचानावाले विश्वका सर्जन या नियमन कैसे कर सकता है? इसके लिए तो अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न कोई चेतनतत्त्व ही चाहिए। यह विचार जैसे-जैसे प्रबल होता गया वैसे-वैसे अनेक आकार भी धारण करता गया यही विचार संघर्ष ब्रह्मसूत्रकी रचनाका अन्यतम आधार है। इसमें स्वतंत्र प्रधान कर्तृत्ववादका आगम एवं तर्कके आधार पर निरास किया गया है और एकमात्र ब्रह्मतत्त्वका मुख्य कर्तृत्व स्थापित किया गया है। ब्रह्मसूत्रके उपलब्ध सभी भाष्य इस बातमें एकमत हैं कि ब्रह्मतत्त्व ही विश्वका मुख्य और स्वतंत्र कारण है, परन्तु केवल कारणताके विचारमें ही भाष्योंकी व्याख्या समाप्त नहीं होती। उन्हें इस मूल कारणका स्पष्टीकरण ईश्वरत्वकी परिभाषामें भी करना पड़ता है। इसीलिए सभी भाष्यकार आपसमें चाहे जितना मतभेद रखते हों फिर भी, जब ब्रह्मतत्त्वमें ईश्वरत्व घटाते हैं तब उन्हें अपने विरोधी अवैदिक ईश्वरवादियोंकी

---

१. सांख्यादयः स्वपक्षस्थापनाय वेदान्तवाक्यान्यप्युदाहृत्य स्वपक्षानुगुण्येनैव योजयन्तो व्याचक्षते। तेषां यद् व्याख्यानं तद् व्याख्यानाभासं, न सम्यग्व्याख्यानमित्येतावत् पूर्वकृतम्।

—ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, २. १

कुछ मान्यताओं और उपपत्तियोंको भी स्वाभिमत ईश्वरत्वकी व्याख्यामें घटाना पड़ता है।

ब्रह्मसूत्रके उपलब्ध सभी भाष्य मुख्य दो वर्गोंमें बाँटे जा सकते हैं। एक वर्गमें केवल शंकर आते हैं और दूसरे वर्गमे भास्करसे लेकर चैतन्य तकके सभी। शंकर केवलाद्वैती हैं। उन्हें ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरे किसी तत्त्वका पारमार्थिकत्व इष्ट नहीं है; और साथ-ही-साथ उन्हें यह भी कठिनाई है कि एकमात्र कूटस्थनित्य ब्रह्म ही हो तो बहुत्व आवे कहाँसे और उसका अनुभव भी कैसे हो? वैसा कूटस्थनित्य ब्रह्म परिणामी तो हो नहीं सकता। इसके अतिरिक्त बन्ध-मोक्ष एवं जीव-भेदकी व्यवस्था भी घटानी रही। ऐसी सब कठिनाइयोंका अन्त शंकरने मायावाद मानकर किया। मायाको स्वतंत्र तत्त्व माने, तो भी केवलाद्वैत नहीं टिक सकता। अतएव उन्होंने उसका सदसदनिर्वचनीय आदि रूपमें वर्णन कर उसे न तो ब्रह्मतत्त्वसे भिन्न ही माना और न सर्वथा अभिन्न ही, और फिर भी माया का अस्तित्व स्वीकार करके केवलाद्वैत-वादकी उपपत्ति की तथा दृश्यमान व्यावहारिक प्रपंचका अस्तित्व मायिक है ऐसा स्थापित किया। वस्तुतः स्वतंत्र प्रधानवादी सांख्यको एकमेंसे बहुत्व घटानेकी जो कठिनाई थी, वही कठिनाई शंकरको भी थी। परन्तु सांख्यका मार्ग परिणामिनित्यतावादके कारण सरल था, शंकरका मार्ग वैसा सरल नहीं था। तो भी उन्होंने अपना मार्ग बहुत कुशलतासे

उपनिषद्के साथ सांख्यदर्शनके सम्बन्धकी चर्चाके लिए देखो History of Indian Philosophy by Belvalkar and Ranade, Vol, 2, pp. 412-30.

सांख्यादयस्त्वास्तिका नाऽत्र प्रतिवादिनः। तैर्बौद्धगताभ्युपगमवादत एव स्वस्वप्रतिज्ञातानां वेदान्तार्थैकदेशानां प्रतिपादनादिति मन्तव्यम्।

—ब्रह्मसूत्र विज्ञानामृतभाष्य २. १. १ की उत्थानिका

सरल बनाया। यद्यपि शंकरने मायाके आश्रयसे ब्रह्मतत्त्वके कूटस्थ-नित्यत्व और अपने केवलाद्वैतवाद दोनोंकी स्थापना की, परन्तु उन्होंने तत्काल या आगे उपस्थित होनेवाले प्रश्नोंके विषयमें कोई सर्वांगीण स्पष्टीकरण नहीं किया। वैसा स्पष्टीकरण उनके समकालीन तथा उत्तरकालीन धुरन्धर विद्वान् शिष्योंने किया। इसीलिए वैसे स्पष्टीकरणके अनेक प्रकार मिलते हैं। सर्वज्ञात्ममुनि एक तरहका स्पष्टीकरण करते हैं, तो वाचस्पति मिश्र दूसरी तरहका, और तीसरा आचार्य कुछ तीसरी ही तरहका। परन्तु उन सब स्पष्टीकरणोंमें शंकरका मुख्य अभिप्रेत तत्त्व पूर्णतः सुरक्षित रहा है। वह तत्त्व अर्थात् केवलाद्वैतवाद[1]।

जब ब्रह्मको ही ईश्वर कहना हो तब इस बातका स्पष्टीकरण करना पड़ेगा कि एकमात्र ब्रह्म ही ईश्वर और वही जीव यह कैसे घट सकता है? इसीलिए शांकर विचारकोंने इसको उपपत्ति करनेमें माया और अविद्याका द्वितय भी माना। मायोपाधिक ब्रह्म ईश्वर है और अविद्योपाधिक ब्रह्म जीव है। माया समष्टिगत अविद्या ही है, जबकि वैयक्तिक अविद्या जीवको उपाधि है। ब्रह्मका ईश्वरके रूपमें वर्णन व स्थापन करनेके अनन्तर भी अनेक प्रश्न खड़े होते ही हैं। उनमेंसे मुख्य ये हैं; ब्रह्म जिस मायाके आश्रयसे सृष्टिका सर्जन करता है उस मायाका स्वरूप क्या है? यह सर्जन प्राणियोंके कर्मसापेक्ष है या निरपेक्ष? और ईश्वरका स्थापन मुख्यतः तर्कसे करना चाहिए या आगमसे? आदि। इन प्रश्नोंका उत्तर भी शांकर विचारकोंने दिया है। उनका सामान्य रूपसे अभिप्राय यह है कि सृष्टि अनादि है, प्राणियोंके कर्मके अनुसार नये-नये कल्पोंमें

१. देखो दासगुप्ताकी हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन फिलोसोफ़ी भाग ३ के पृ० १९७-८ परकी पादटिप्पणी नं० २।

ईश्वर सर्जन करता है तथा यह मुख्यतः आगमके, और विशेषतः उपनिषदोंके, आधार पर सिद्ध है। तर्क, बहुत हुआ तो, उसका अनुकूल समर्थन करनेमें उपयोगी है। इस प्रकार उपलब्ध भाष्योंमेंसे सबसे प्राचीन शंकरभाष्यने सच्चिदानन्द ब्रह्मको ही ईश्वरतत्त्वके रूपमें स्वीकार कर उसीको चराचर जगत्के उपादान एवं निमित्तकारणके रूपमें स्थापित किया, और न्यायवैशेषिक आदिका जो स्वतंत्र ईश्वर-निमित्तवाद था उसका निराकरण किया; साथ ही, सांख्यसम्मत स्वतंत्र प्रकृतिके कर्तृत्ववादका भी निराकरण किया। इसी प्रकार जो अनीश्वरवादी थे उनके मतका भी अवैदिक कहकर निषेध किया। इस तरह ब्रह्मवादियोंमें ब्रह्मके पूर्ण कर्तृत्वकी तथा ईश्वरत्वकी स्थापना सिद्ध हुई।

परन्तु शंकरसे पहले भी ब्रह्मसूत्रके अनेक व्याख्याकार हुए हैं। वे सभी व्याख्याकार एक ही प्रकारसे व्याख्या करते थे, ऐसा भी नहीं था; तो भी उन सब व्याख्याकारोंमें एक समानता प्रतीत होती है। वह यह कि उनमेंसे कोई भी शंकरकी भाँति केवलाद्वैती या मायावादी नहीं था, और यदि कोई था तो उसका कोई स्पष्ट आधार नहीं मिलता। वे सभी मुख्य रूपसे ब्रह्मतत्त्वको प्रकृतिसे भिन्न मानते, और फिर भी उसे परिणामी कहते। सांख्य भी प्रकृतिको परिणामी माने और ब्रह्मवादी भी ब्रह्मको परिणामी माने, तो फिर दोनोंमें अन्तर क्या रहा—यह प्रश्न उनके सामने होना ही चाहिए। तभी तो प्रायः उन सभी व्याख्याकारोंने ब्रह्मको परिणामी मानकर उसीमेंसे चेतन और अचेतनकी सृष्टि घटाई है, और फिर भी ब्रह्मके तात्त्विक स्वरूपको उन परिणामोंमें भी कूटस्थ रूपमें सुरक्षित रखनेकी युक्तियाँ एवं उपपत्तियाँ दी हैं तथा अनेक दृष्टान्तों द्वारा उसका समर्थन किया।

प्राक्शंकरकालीन व्याख्याकारोंके ग्रन्थ अखण्ड तो उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु उनके विचारप्रवाह भिन्न-भिन्न आचार्य-परम्पराओं द्वारा सुरक्षित, परिपुष्ट एवं विकसित होते ही रहे हैं। उन आचार्योंमें प्रथम भास्कर आते हैं। वह ब्रह्मतत्त्वको परिणामी मानकर उसमें विविध शक्ति स्वीकार करते हैं, और एक शक्तिसे भोग्यसृष्टिका तो दूसरी शक्तिसे भोक्ता अर्थात् जीवसृष्टिका सर्जन घटाते हैं; और ब्रह्मको ही स्रष्टा, पालयिता व संहारक ईश्वरका स्थान देकर तथा उसीको उपादान एवं निमित्तरूप मानकर शंकरकी भाँति दूसरे वादोंका निरास करते हैं। भास्कर भी ईश्वरकी स्थापनामें मुख्य आधार उपनिषदोंका लेते हैं और सृष्टिको प्राणिकर्मसापेक्ष मानते हैं। वह अचेतन-चेतन विश्वको उपादान स्वरूप ब्रह्मतत्त्वसे भिन्नाभिन्न मानते हैं। वह कहते हैं कि वस्तुमात्र अमुक दृष्टिसे एक, तो दूसरी दृष्टिसे अनेक है। एक ही वस्तुमें एकत्व और अनेकत्व स्वाभाविक है, वास्तविक है। जैसे समुद्र एक होने पर भी तरंगोंके रूपमें अनेक है, वैसे ही ब्रह्मरूप ईश्वर एक होने पर भी वह जगत् एवं जीवात्मक परिणामके रूपमें अनेक भी है। ये परिणाम भले अल्पकालीन ही क्यों न हों, पर इससे वे अवास्तविक नहीं ठहरते। इस तरह भास्करको ब्रह्ममें ईश्वरत्वकी स्थापनाके लिए शंकरकी भाँति मायाका आश्रय नहीं लेना पड़ा; उन्होंने तो ब्रह्ममें सहभू वास्तविक अनेक शक्तियाँ ही मानी हैं।

यहाँ एक बात ध्यान देने जैसी है, और वह यह कि जैसे सांख्य मूल प्रकृतिमेंसे तन्मात्रा आदि भोग्य-सृष्टि और बुद्धि, अहंकार आदि रूप भोक्तृ-शक्ति घटाते हैं, वैसे भास्कर भी मूल ब्रह्ममेंसे ही घटाते हैं।[1]

---

१. देखो दासगुप्ताका हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन फिलोसोफ़ी नामक ग्रन्थ, भाग ३, पृ. ६; और भास्करभाष्य (ब्रह्मसूत्र) २. १. १४ पृ. ९७।

यों तो उपनिषद्कालमें भी अद्वैतविचारकी प्रतिष्ठा बढ़ती और जमती जा रही थी, पर साथ ही दूसरी ओर द्वैत-विचारक भी औपनिषद्-वर्तुलके भीतर तथा बाहर स्पष्टरूपसे द्वैतविचारका स्थापन करते ही जा रहे थे। इस विचारसंघर्षमेंसे एक प्रकारका द्वैताद्वैतवाद भी भिन्न भिन्न स्वरूपमें अस्तित्वमें आ रहा था। सदद्वैत, द्रव्याद्वैत, गुणाद्वैत, ब्रह्माद्वैत, विज्ञानाद्वैत और शब्दाद्वैत जैसे अद्वैत विचारोंका जिस समय प्राधान्य था उसी समय उसमें शंकरके केवलाद्वैतवादका सबल रूपसे प्रवेश हुआ। इसकी प्रतिक्रिया द्वैत एवं द्वैताद्वैत विचारकोंके ऊपर भी हुई। फलतः इन दोनोंने अपनी अपनी रीतिसे मायाश्रित केवलाद्वैतवादका विरोध करना शुरू दिया। जैसे भास्करने वैसे ही अन्य प्रबल और प्रबलतम आचार्योंने केवलाद्वैतवादको निर्युक्तिक और अप्रामाणिक सिद्ध करनेके लिए कमर कसी। उनमें उपनिषदोंका अनुसरण करनेवाले आचार्य भी थे। सांख्य और मध्व जैसोंने तो शुद्ध द्वैतके आधार पर विरोध किया, पर रामानुज आदि जैसोंने अद्वैतका आलम्बन लेने पर भी एक भिन्न ही प्रकारके अद्वैतकी स्थापना करके शंकरके केवलाद्वैतका प्रबल निरास करना शुरू किया। ऐसे अद्वैतवादियोंमें सांख्य-योग, वैष्णव व शैव परम्पराके अनुयायी आचार्य हुए हैं। रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ और चैतन्य जैसे आचार्य अपने अपने ढँगसे वैष्णव परम्पराका आश्रय लेकर ब्रह्माद्वैतकी स्थापना करने पर भी वस्तुतः उसमें भेदाभेद और द्वैताद्वैतवादका ही समर्थन करते थे। भास्करने ब्रह्म या ईश्वरतत्त्वमें जो वास्तविक एकानेकत्व या भेदाभेद स्थापित किया था उसीकी चर्चा और स्थापना कुछ भिन्न रूपमें इन वैष्णव और शैव आचार्योंने अधिक ब्योरेसे की। दूसरी ओर विज्ञानभिक्षु जैसोंने भी ब्रह्माद्वैतकी स्थापना की; परन्तु उन्होंने सांख्य-योग विचारको अद्वैतकी परिभाषामें समेटकर रखा, तो श्रीकण्ठ जैसोंने

शैव परम्पराका अवलम्बन लेकर ब्रह्मतत्त्वकी शिवके रूपमें व्याख्या की और अपने ढँगसे अद्वैत भी स्थापित किया। इस तरह उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रका आधार ले करके भी शंकरके केवलाद्वैतका विरोध करनेवाली अनेक परम्पराओंके अनेक आचार्योंने ब्रह्मसूत्रके ऊपर व्याख्याएँ लिखी हैं। उनमेंसे प्रत्येक आचार्य ब्रह्मतत्त्वकी ईश्वर, परमेश्वर, नारायण, विष्णु, कृष्ण, शिव आदि भिन्न भिन्न नामोंसे अद्वैत एवं कूटस्थके रूपमें स्थापना करते हैं, और फिर भी उस ईश्वरतत्त्वमेंसे अचित्-चित्की अथवा जड़-चेतनसृष्टिकी वास्तविक उत्पत्ति घटाते हैं।

रामानुज जैसे आचार्य कहते हैं कि परब्रह्म या नारायण सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी होनेके अतिरिक्त वास्तविक मंगलगुणका निधान है। अपने मूलस्वरूपमें तो वह कूटस्थ ही है, पर अपनी शक्तियोंसे वह अपने अव्यक्त या कारणावस्थ अचित् और चित्तत्त्वरूप सूक्ष्म शरीरको कार्यावस्थ बनाता है। प्रकृति और जीवतत्त्व, जो शरीरके रूपमें नारायणके साथ थे, वे ही उसकी शक्तिसे संचालित होते हैं। यह अचित् एवं चित् सृष्टि अर्थात् जड़-चेतन जगत् वास्तविक है, मायिक नहीं। रामानुजने परब्रह्मको ईश्वर एवं वासुदेवके रूपमें स्थापित करनेमें मुख्यतः आगमका आधार स्वीकार किया है और कहा कि अनुमान प्रमाण ऐसी स्थापनाके लिए समर्थ है ही नहीं। इसके सिवाय, उन्होंने प्राणिकर्मसापेक्ष सृष्टिकी रचना ईश्वरके द्वारा मानी है, और फिर भी ईश्वरका स्वातन्त्र्य भी बनाये रखा है। अनुमान प्रमाणकी प्रधानता के बारेमें अपने पूर्वगुरु यामुनाचार्यसे जुदा पड़ करके भी रामानुजने आगमप्रमाणसे वासुदेव या नारायणरूप परब्रह्मकी स्थापना करनेमें उपनिषदोंका उपयोग प्रचुरताके साथ किया है, और जहाँ-जहाँ शंकरने केवलाद्वैतपरक अर्थ घटाया है वहाँ भी उन्होंने विशिष्टाद्वैतपरक अर्थ फलित करके यह बताया है कि उपनिषदोंका एवं ब्रह्मसूत्रका तात्पर्य नारायणरूप परब्रह्ममें ही है और

यह भी सूचित किया है कि नारायण परब्रह्म ही चेतनाचेतन जगत्का उपादान तथा निमित्त कारण है[1]।

निम्बार्कने भी ब्रह्मतत्त्वकी ईश्वरके रूपमें स्थापना करके उसीको विष्णु कहा है। यह भी पारमार्थिक भेदाभेद या द्वैताद्वैतवादी हैं। इनके मतसे भी परब्रह्म विष्णु ही वास्तविक चराचर जगत्का उपादान और निमित्त कारण है। यह भी अपनी स्थापनामें मुख्यरूपसे आगम-प्रमाणका आधार लेते हैं और सृष्टिको प्राणिकर्मसापेक्ष ही मानते हैं[2]।

विज्ञानभिक्षुने भी सांख्य, योग एवं वेदान्तसूत्रकी व्याख्याएँ लिखी हैं। इन्होंने भी ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या करते समय अपने भाष्यमें ब्रह्मतत्त्वकी ईश्वरके रूपमें स्थापना की है, परन्तु भास्कर, रामानुज आदिकी अपेक्षा इन्होंने अपना अलग रास्ता लिया है। इन्होंने परब्रह्मकी ईश्वरके रूपमें स्थापना करते समय योगपरम्परासम्मत ईश्वरकी स्थापनामें काममें लाई गई युक्तिका उपयोग करके कहा है कि सत्त्वरूप शुद्ध प्रकृतिका अवलम्बन लेकर ब्रह्म अपनेमें ही सदा वर्तमान प्रकृति एवं पुरुषतत्त्वकी सृष्टि करता है, उसे विकसित करता है। प्रकृति और पुरुष (जीव) वास्तविक हैं और ब्रह्मसे भिन्न भी हैं, तो भी ब्रह्मरूप अधिष्ठानके अतिरिक्त अन्यत्र वे रहते ही नहीं। फलतः वे भिन्न होने पर भी ब्रह्मसे अविभक्त हैं। इन्होंने

---

१. देखो दासगुप्ताकी उक्त पुस्तक भाग ३, पृ० १५६ तथा श्रीभाष्यमें (बाम्बे संस्कृत सिरीज़)--सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरस्यैव ब्रह्मणः स्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरत्वेन कार्यत्वात्। १.१.१

२. देखो दासगुप्ताकी उक्त पुस्तक भाग ३, पृ० ४०५-६ तथा निम्बार्कभाष्य (ब्रह्मसूत्र) में--तस्मात् सर्वज्ञः सर्वाचिन्त्यशक्तिविश्वजन्मादिहेतुर्वेदैकप्रमाणगम्यः सर्वभिन्ना-भिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव जिज्ञासाविषयस्तत्रैव सर्वं शास्त्रं समन्वेतीत्यौपनिषदानां सिद्धान्तः। १. १. ४

ब्रह्मतत्त्वकी उपादान या निमित्तकारणरूप चालू व्याख्या छोड़कर अधिष्ठानरूप व्याख्या की और कहा कि यह अधिष्ठानकारण समवायी, असमवायी और निमित्तकारणसे भिन्न ही एक चतुर्थ प्रकारका कारण है। जिसमें कार्य अविभाग रूपमें रहता हो और जिससे उपष्टम्भ पाकर प्रवृत्ति कर सकता हो उसीको अधिष्ठानकारण कहते हैं। ऐसा अधिष्ठानकारण ब्रह्म है और प्रकृति एवं पुरुष उसीमें अविभक्त होकर रहते हैं। इसीलिए विज्ञानभिक्षु अविभागाद्वैतवादी कहे जाते हैं। यह शंकरके मायावादका बहुत ही उग्र रूपमें विरोध करते हैं और उपनिषदों तथा अनेक पुराण, स्मृति आदिके आधार पर ब्रह्मका निर्विभागाद्वैतके रूपमें स्थापन करके उसीको ईश्वर कहते हैं। विज्ञानभिक्षु ब्रह्मको ही ईश्वर मानकर जब ब्रह्मसूत्रके ऊपर लिखते हैं, तब यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि योगभाष्यके ऊपर वार्तिक लिखते समय ईश्वरस्वरूपके बारेमें जिस युक्तिका उपयोग किया था उसी युक्तिका अवलम्बन वह ब्रह्मके प्रतिपादनमें भी करते हैं। अतएव ऐसा कहा जा सकता है कि शंकरकी भाँति विज्ञानभिक्षु सांख्य एवं सांख्य-योग परम्पराको अवैदिक नहीं मानते। वह तो यहाँ तक कहते हैं कि सांख्यसम्मत प्रकृति तो वैदिक है। वह इस विचारके आधारोंका भी निर्देश करते हैं और कहते हैं कि प्रकृति तो ब्रह्मका अंश है। ब्रह्मको जब ईश्वरकार्य करना होता है तब उसे जिस अनादिशुद्ध सत्त्वका आश्रय लेना पड़ता है वह मायाकी भाँति असत् अथवा अपारमार्थिक नहीं है। ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या करते समय सांख्यमतके निषेधका प्रसंग उपस्थित होनेपर वह सामान्यतः इतना ही कहते हैं कि प्रकृतिरूप मूलकारण केवल अनुमानसे सिद्ध नहीं हो सकता। वह सृष्टिको प्राणिकर्मसापेक्ष मानते हैं[1]।

---

१. देखो दासगुप्ताकी उक्त पुस्तक भाग ३, पृ० ४४५-९५ तथा विज्ञानामृत-भाष्य १. १. २; १. १. ४; २. १. ३२।

वल्लभाचार्यने भी अपने भाष्यमें ब्रह्मकी ईश्वरके रूपमें स्थापना करनेका प्रयत्न किया है। ऊपर-ऊपरसे देखने पर यह प्रयत्न दूसरे आचार्योंसे भिन्न-सा भासित होता है, पर वस्तुतः उनकी प्रक्रिया मौलिक रूपमें रामानुज आदिसे भिन्न नहीं है। वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैतवादी होनेसे ब्रह्मको विश्वस्वरूप और विश्वको ब्रह्मस्वरूप तथा विश्वका पारमार्थिकत्व स्थापित करते हैं। उन्होंने ब्रह्मरूप ईश्वरको जगत्का कारण कहते समय दूसरे पूर्ववर्ती आचार्योंकी अपेक्षा भिन्न परिभाषाका उपयोग किया है। वह कहते हैं कि ईश्वर अर्थात् ब्रह्म विश्वका उपादानकारण नहीं, पर समवायिकारण है। उन्होंने समवायिकारणकी व्याख्या भी कुछ अंशमें न्याय-वैशेषिककी व्याख्याकी अपेक्षा भिन्न की है। वह भी ब्रह्मकी स्थापना मुख्यतः आगमप्रमाणसे करते हैं और सृष्टि भी प्राणिकर्मसापेक्ष मानते हैं, फिर भी ईश्वरकी इच्छा या लीलाका पूर्ण स्वातंत्र्य भी सुरक्षित रखते हैं।

वल्लभाचार्यने एक प्रश्न यह उठाया है कि यदि ईश्वरतत्त्व सत्, चित् और आनन्दरूप हो तो उसके कार्य या परिणामरूप विश्वमें भी समवायिकारणरूप ईश्वरके इन तीन अंशोंका अनुभव होना चाहिए, किन्तु अचित् या चित् जगत्में तो समानरूपसे मात्र अस्तित्व-अंशका ही अनुभव होता है तथा जीव जगत्में चैतन्यका अनुभव होता है और वह भी तारतम्यसे। यदि ईश्वर अर्थात् ब्रह्म और विश्वका अभेद हो अथवा विश्व समवायिकारण ईश्वरका कार्य हो तो उस कार्यमें समवायिकारणके सब गुण समानरूपसे आने ही चाहिए। परन्तु वे समानरूपसे अनुभवमें नहीं आते। ऐसा क्यों? इसका उत्तर उन्होंने ब्रह्मसूत्र १.१.३ के भाष्यमें संक्षेपमें किन्तु बुद्धिग्राह्यरूपसे दिया है और इस संक्षेपका विस्तार भाष्यके टीकाकार पुरुषोत्तमजीने किया है। वह कहते हैं कि समवायिकारणरूप ब्रह्मके सत्त्व आदि गुण कार्य-जगत्में तारतम्यसे व्यक्त

होते देखे जाते हैं, इसका कारण आवरणभंगका तारतम्य है। अचित्-विश्वमें चैतन्य व्यक्त नहीं है, वहाँ उसका आवरण है, परन्तु चित्-जगत्में यह आवरण शिथिल होनेसे चैतन्यका अनुभव होता है। इसका कारण भी आवरणभंगका तारतम्य है। शुद्ध आनन्दांश तो ईश्वरमें ही अभिव्यक्त होता है।

वल्लभाचार्यको यह प्रश्न भी हुआ कि विश्वका मूल कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति मानी जाती है और उसीसे विश्ववैचित्र्यकी उपपत्ति सांख्याचार्य करते आये हैं, तो उस मूलतत्त्वको हटाकर उसके स्थानमें अतिरिक्त ब्रह्मतत्त्वकी ईश्वरके रूपमें स्थापना करनेमें विशेषता क्या है? इसका उत्तर भी उन्होंने दिया है। वह कहते हैं कि त्रिगुणात्मक प्रकृतिमें जो सत्त्व अंश है उसके कारण सुखका भान नहीं घटाया जा सकता, क्योंकि प्रधानजन्य सृष्टिमें सर्वत्र सत्त्वका अंश तो है ही। यदि उसके कारण सुख एवं ज्ञान सम्भव हो तो समग्र विश्वमें उनका समानरूपसे अनुभव होना चाहिए। परन्तु हम देखते हैं कि कोई एक ही वस्तु अनेक जीवोंको एक ही समयमें सुख, दुःख और मोहका कारण बनती है तथा एक जीवको भी कालभेदसे वही वस्तु सुख, दुःख आदि रूप बनती है। अतएव सुख, दुःख, ज्ञान आदिका होनेवाला अनुभव सत्त्व आदि गुणमूलक नहीं मानना चाहिए, पर वह ईश्वरगत चित्-आनन्द शक्तिकी तारतम्ययुक्त अभिव्यक्तिके ही कारण है ऐसा मानना चाहिए। इस तरह वल्लभाचार्यने मूल-कारण प्रकृतिके स्थानमें ब्रह्मकी प्रतिष्ठा की और उसीको परमेश्वर कहा[1]।

---

१. देखो अणुभाष्य (१. १. ३)—'तद् ब्रह्मैव······समवायिकारणम्। कुतः। समन्वयात् सम्यगनुवृत्तत्वात्। अस्तिभातिप्रियत्वेन सच्चिदानन्दरूपेणान्वयात्। नामरूपयोः कार्यरूपत्वात्। प्रकृतेरपि स्वमते तदंशत्वात्। अज्ञानात् परिच्छेदाप्रियत्वे। ज्ञानेन बाधदर्शनात्। नानात्वं त्वैच्छिकमेव।' इस परकी गोस्वामी पुरुषोत्तमजीकृत भाष्यप्रकाशटीका भी देखो।

श्रीचैतन्यप्रभुकी प्रक्रियामें तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे कोई ख़ास नया मुद्दा नहीं है।

अब अन्तमें शैवाचार्य श्रीकण्ठको लेकर देखें कि वह ब्रह्मसूत्रकी व्याख्यामें ब्रह्मकी ईश्वरके रूपमें स्थापना करते समय कौन-सा दृष्टिबिन्दु स्वीकार कर चलते हैं। श्रीकण्ठ अन्य पूर्वाचार्योंकी भाँति कहते हैं कि ब्रह्म सच्चिदानन्दरूप है, पर वह शिवरूप है और वही ईश्वर है। वह ईश्वर, कतिपय माहेश्वर या शैवके कथनानुसार मात्र निमित्त कारण नहीं है, पर उपादान और निमित्त उभय स्वरूप है। इसके लिए श्रीकण्ठ समवायिकारण पदका उपयोग करते हैं। श्रीकण्ठाचार्यका कहना है कि उपनिषदोंमें जो अनेक विरोध थे उनका निराकरण करके उपनिषदोंका सच्चा मर्म उद्घाटित करनेवाले आगम श्वेत नामके शैवाचार्यने रचे थे। श्वेतके पश्चात् भी सत्ताईस शैवाचार्य हुए हैं। उन आगमोंके अनुसार श्रीकण्ठ अपना भाष्य रचनेका दावा करते हैं और अन्तमें अनेक उपनिषद् वाक्य तथा पुराण एवं स्मृतिके आधार पर वह स्थापित करते हैं कि महेश्वर ही परब्रह्म है। शिव, शर्व, भव, महेश्वर, ईशान आदि अनेक नामोंसे वही ब्रह्म व्यवहृत होता है।

श्रीकण्ठाचार्यने ब्रह्मको शिवरूपसे ईश्वरपदका स्थान दिया है और सो भी उपादान-निमित्तके रूपसे। इस तरह उन्होंने नकुलीश, पाशुपत और न्याय-वैशेषिक आदि महेश्वर-निमित्तकारणवादियोंसे अपना दृष्टिभेद दरसाया है। यद्यपि उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा है, परन्तु वे अनेक शैवागमोंका आधार लेते हों ऐसा प्रतीत होता है। ये शैवागम मूलमें उपनिषदोंके आधार पर रचे गये थे या किसी द्राविड़ भाषामें विद्यमान ग्रन्थोंके आधारपर रचे गये थे, इस बारेमें कोई स्पष्टता नहीं होती, पर ऐसा लगता है कि उनके समक्ष उपनिषदोंके विचारोंको प्रतिबिम्बित करनेवाले कई शैवागम थे ही।

श्रीकण्ठको भी एक प्रश्नका उत्तर देना पड़ा है। ब्रह्मसूत्रके दूसरे अध्यायके दूसरे पादमें 'पत्युरसामञ्जस्यात्' से आरम्भ होनेवाले अधिकरणमें शंकराचार्यने चार प्रकारके माहेश्वरोंके मतका निरास इस दृष्टिसे किया है कि वे माहेश्वर महेश्वरको जगत्का उपादान न मानकर केवल निमित्त-कारण मानते हैं, तो यह ब्रह्मवाद नहीं है। जब श्रीकण्ठको इन्हीं सूत्रोंकी व्याख्या करनेका प्रसंग प्राप्त हुआ तब वह स्वयं तो शैवाचार्य होनेसे शिव-ब्रह्मपरक भाष्य करनेके लिए प्रवृत्त हुए थे; और उक्त सूत्रसन्दर्भमें तो शैवमतका निरास शंकराचार्य आदि अनेक आचार्योंने किया था। तो फिर इस स्थान पर श्रीकण्ठको क्या करना चाहिए? श्रीकण्ठके लिए यह एक प्रश्न था। शैव होनेसे वह उक्त सूत्रसन्दर्भका, शंकराचार्य आदिकी भाँति, माहेश्वरमतनिरासपरक तो वर्णन कर ही नहीं सकते। इससे उन्होंने भी अपना मार्ग भिन्न रूपसे लिया। श्रीकण्ठने कहा कि यह सूत्रसन्दर्भ जिस माहेश्वरमतका निरास करता है वह एकदेशीय शैवोंका मत है। कई शैव ऐसे भी थे जो, श्रीकण्ठ के कथनके अनुसार, महेश्वरको मात्र निमित्त कारण मानते थे। अतः श्रीकण्ठ भी, शंकराचार्य आदि आचार्योंका अनुसरण करके, इस सूत्र-सन्दर्भसे एकदेशीय मतका निराकरण करते हैं और औपनिषद तथा सर्वसम्मत शैवागमके आधार पर शिवका उपादान-निमित्तकारणत्व स्थापित करते हैं[1]।

हम पहले देख चुके हैं कि न्याय-वैशेषिक परम्परामें ईश्वरकर्तृत्वकी मान्यता है और वह ईश्वर पशुपति या महेश्वर आदि नामसे विशेष ज्ञात है। वहाँ इस ईश्वरका कर्तृत्व मात्र निमित्तकारणता तक ही सीमित है; उसमें उपादानताका स्पर्श ही नहीं है। हम सर्वदर्शनसंग्रहमें

१. देखो श्रीकण्ठभाष्य १. १. २ तथा दासगुप्ताका उक्त ग्रन्थ भा० ५, पृ० ७९।

उल्लिखित नकुलीश, पाशुपत तथा शैवदर्शनमें देखते हैं कि उनमें भी पशुपति या शिवको केवल निमित्तकारण ही माना गया है। इस परसे यह कहा जा सकता है कि वेदान्ती होने पर भी मध्व जिस तरह इतर वेदान्ती आचार्योंसे जुदा पड़कर ब्रह्मका मात्र निमित्तकारणके रूपमें वर्णन करते हैं, उसी तरह शैव परम्परामें भी हुआ हो। कई ऐसे भी शैवाचार्य होंगे जो अपनी शैव परम्पराके साथ उपनिषदोंका मेल बिठाते रहे। वैसे आचार्य स्वाभाविक रूपसे ही उपनिषद्गत ब्रह्मको शिव कहकर उसमें उपादान-निमित्तत्व घटाते रहे, तो दूसरे इस विचारसे जुदा पड़कर ईश्वरको मात्र निमित्तकारणरूप मानते रहे। श्रीकण्ठ वेदान्त परम्पराका अनुसरण करके अधिक परिमाणमें उपनिषदोंका आश्रय लेते हैं तो न्याय-वैशेषिक नकुलीश, पाशुपात, शैव आदि या तो प्रधानरूपसे तर्कका आश्रय लेते हैं या फिर दूसरे अपने स्वतंत्र शैवागमोंको प्रमाण मानकर चलते हैं।[१]

यहाँ एक ख़ास उल्लेखनीय बात यह है कि श्रीकण्ठ जब शिवको ब्रह्मके रूपमें स्थापित करते हैं तब कहते हैं कि सूक्ष्म अचित् और चित्-शक्तियुक्त ब्रह्म कारणब्रह्म है और स्थूल या दृश्यमान अचित्-चित्युक्त विश्व कार्यब्रह्म है। श्रीकण्ठका यह कथन श्रीरामानुजाचार्यकी मान्यताका प्रतिबिम्बमात्र है। रामानुजने सूक्ष्म अचित् और चित्को शरीर कहकर उसे ब्रह्मका कारणावस्थ रूप तथा व्यक्त या स्थूल प्रपंचको ब्रह्मका कार्यावस्थ रूप कहा है। ये दोनों अनुक्रमसे शैव और वैष्णव आचार्य परिणामवादी होने पर भी परिणामका आधार ब्रह्मकी शक्ति है ऐसा कहकर ब्रह्मको कूटस्थनित्य या अपरिणामी घटाते हैं। श्रीकण्ठ तो स्पष्ट ही कहते हैं कि परिणाम अर्थात् विकार। जो परिणामी होता है वह विकारी होता ही है। अतः ब्रह्मको निर्विकार रखनेके लिए

१. देखो दासगुप्ताकृत उक्त ग्रन्थ भा. ५, पृ. ६५से तथा श्रीकण्ठभाष्य १.१.२।

वह परिणामोंको ब्रह्मकी शक्तियोंके ऊपर लादते हैं। ब्रह्ममें वैसी शक्तियाँ अनेक हैं। श्रीवल्लभाचार्यका मत अविकृत-परिणामवाद कहा जाता है। इसका रहस्य श्रीकण्ठके कथनमें ही है। श्रीकण्ठ परिणामको विकार कहे तो फलित यही हो कि परिणामी ब्रह्म विकारी है। वल्लभाचार्य ब्रह्मपरिणामवादी हैं, अतः उनके मत पर विकारी ब्रह्मवादका आरोप कोई भी सरलतासे कर सकता है। संभव है, ऐसे आरोपसे मुक्त रहनेके लिए उन्होंने अपने वादको अविकृतपरिणामवाद कहा हो।[1]

ईश्वर विषयक विविध मान्यताओंका सार

ऊपर ईश्वरतत्त्वकी कुछ ब्योरेसे जो चर्चा की है उसका सार इस प्रकार है :—

१. परमाणुवादियोंमें मुख्य दो परम्पराएँ हैं। जैन और बौद्ध परम्पराएँ परमाणुवादी होने पर भी ईश्वरको स्वतंत्र व्यक्तिके रूपमें कोई स्थान नहीं देतीं; जब कि मध्व और न्याय-वैशेषिक आदि परम्पराएँ ईश्वरको स्वतंत्र व्यक्ति तो मानती हैं, पर उसकी केवल निमित्तकारणके तौर पर स्थापना करती हैं।

२. मूल-एकतत्त्ववादी सांख्य परम्परामें जो चौबीस या पचीस तत्त्ववादी हैं वे तो ईश्वरको स्थान देते ही नहीं, पर छब्बीस तत्त्ववादी सांख्य-योग परम्परा स्वतंत्र ईश्वरतत्त्व मानकर उसमें केवल निमित्तकारणता की कल्पना करती है।

३. प्रधानवादीसे भिन्न ऐसी मूल-एकतत्त्ववादी, सभी ब्रह्मवादी वेदान्त परम्पराएँ ब्रह्मको ही विश्वका उपादान और निमित्तकारण कहकर उसीको ईश्वरके रूपमें घटाती हैं। कोई वेदान्ती ऐसे ब्रह्मको मात्र ईश्वर, परमेश्वर जैसा साधारण विशेषण लगाकर वर्णन करता है, तो

१. ...कारणविकृतिरूपत्वात् परिणामस्य। —श्रीकण्ठभाष्य १. १, ५।

दूसरा कोई नारायण, वासुदेव, कृष्ण, शिव जैसे साम्प्रदायिक नामोंसे भी उसका वर्णन करता है। परन्तु वे सभी एक या दूसरे ढँगसे अपने विचारकी स्थापना ब्रह्मतत्त्वके ऊपर ही करते हैं।

४. शंकरसे लेकर ब्रह्मसूत्रके सभी भाष्यकारोंकी एक वृत्ति समान रूपसे जान पड़ती है कि मूलतत्त्वके रूपमें ब्रह्मकी प्रतिष्ठा करने पर तथा उसीमें विश्वका उपादानाभिन्न-निमित्तकारणत्व स्थापित करने पर भी वे सांख्यसम्मत प्रकृति और प्राकृत कार्योंका अवलम्बन लिये बिना अपना कोई भी मन्तव्य व्यवस्थितरूपसे प्रतिपादित कर नहीं सकते। दूसरी तरहसे यों कहा जा सकता है कि इन सभी ब्रह्मवादियोंकी अद्वैतभूमिका का समर्थन अन्ततः सांख्यसम्मत प्रकृतितत्त्वके आश्रयसे ही सुघटित किया जाता है। यदि प्रत्येक ब्रह्मवादीके समर्थनमेंसे सांख्य प्रक्रियाको निकाल दिया जाय तो कोई भी ब्रह्मवाद खड़ा ही नहीं रह सकता। इस परसे यों कहा जा सकता है कि प्रधानैकतत्त्ववादी सांख्य विचारकोंने प्रधानमें जो स्वतंत्र कर्तृत्व तथा उपादानाभिन्न निमित्तकारणत्व कल्पित किया था और माना था उसीको ब्रह्मवादियोंने प्रधानमेंसे हटाकर ब्रह्ममें घटाया है और सांख्यसम्मत प्रकृतिको एक या दूसरे ढँगसे, एक या दूसरे नामसे स्वीकार करके भी, उसके स्वतंत्र कर्तृत्वका उपनिषदों तथा तर्कके आधार पर निषेध किया है।

उपसंहार

दर्शन और जीवन

जीवनके साथ दर्शनका क्या सम्बन्ध है और उसका विकासक्रम कैसा है—इस भावका द्योतक एक मंत्र कठोपनिषद् में है—

परांचि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

यह मंत्र कहता है कि स्वतःसिद्ध जीवात्माकी नेत्र आदि इन्द्रियोंका स्वभाव बहिर्मुख प्रवृत्ति करनेका है। इससे जीवात्मा इन्द्रियोंके द्वारा सर्वप्रथम बाह्य रूपादि विषयोंको ही जानता है; परन्तु अन्तरात्माको—अपने आन्तरिक स्वरूपको—वह जीवात्मा नहीं जान पाता। ऐसा होने पर भी कोई-कोई धीर व्यक्ति ऐसा होता है जो अमृतत्व अर्थात् अपने आन्तरिक और पारमार्थिक स्वरूपको जानना और पाना चाहता है। इससे वह बहिर्मुख इन्द्रियद्वारोंको आवृत्त करता है, यानी उन द्वारोंको अन्तर्मुख बनाकर अपने स्वरूपदर्शनकी ओर उन्हें मोड़ता है। जब ऐसा करता है तब उस व्यक्तिको अन्तरात्माका ईक्षण अर्थात् दर्शन होता है।

दर्शनविद्याका प्रभवस्थान मानव है, पर मनुष्यको अपने सच्चे स्वरूपका दर्शन एकाएक न होकर क्रमशः होता है। जैसे एक शिशु आयुकी वृद्धिके साथ ही क्रमशः ज्ञान और अनुभवकी वृद्धि करता जाता है, वैसे ही मानवजातिका भी है। इन्द्रियोंकी सहज रचना ही ऐसी है कि वे मनुष्यको भी, इतर प्राणियोंकी भाँति, पहले बाह्य

विश्वके अवलोकनकी ओर ही प्रेरित करती हैं; परन्तु बाह्य विश्वके अवलोकनकी यात्रा करनेमें चाहे जितना रस या आनन्द उपलब्ध होता हो, पर मानवबुद्धिको उसमें अन्तिम सन्तोष नहीं मिलता। ऐसा होता है तब वही मानव इन्द्रियोंको उनके बहिर्गामी व्यापारसे मुक्त करनेका प्रयत्न करता है और उन्हें अन्तर्मुख बनाता है। जब वे इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होकर शक्तिका विकास करती हैं तब उनके आगे अदृष्टपूर्व अन्तर्जगत् या आत्मस्वरूप प्रकट होता है। अन्तर्जगत्का दर्शन अन्तमें अमृतदर्शन अथवा परमात्मदर्शनमें परिणत होता है। इस प्रकार दर्शनविद्या भी प्रथम बाह्य जगत्के निरूपणमें प्रवृत्त होती है, बादमें गहरेमें पैठते-पैठते अन्तर्जगत् अथवा आत्मनिरूपणकी ओर अभिमुख होती है और परिपाकावस्थामें इसमें परमात्माका निरूपण भी आता है। एडवर्ड केर्ड नामक विद्वान्ने धर्मविकासकी तीन भूमिकाएँ गिनाई हैं; जैसेकि—'We look out before we look in; and we look in before we look up.'

यह कथन कठोपनिषद्के मंत्रका ही प्रतिघोष है। इसी क्रमको उपनिषदोंमें अधिभूत, अधिदेव और अध्यात्म पदसे भी कहा गया है। उपनिषदोंमें और अन्यत्र जहाँ-जहाँ अपरा और परा विद्याका अथवा लौकिक और लोकोत्तर विद्याका निर्देश आता है वहाँ सर्वत्र यही वस्तु सूचित की गई है। मनुष्य पहले-पहल अपरा विद्या या लौकिक विद्याके नामसे प्रसिद्ध अनेक दुनियाँकी विद्याओंका अभ्यास करता है, परन्तु सिर्फ़ उन विद्याओंमें ही वह विश्राम नहीं लेता; उससे आगे बढ़कर वह विद्याकी ओर प्रस्थान करता है। यह परा विद्या ही आत्मविद्या और परमात्मविद्या है।

नारद और शौनक जैसे आख्यानोंके द्वारा यह सूचित किया गया है कि अनेक प्रकारकी अपरा विद्याएँ प्राप्त करने पर भी उन्हे उनमें

रति पैदा न हुई और वे परा विद्याएँ प्राप्त करनेके लिए योग्य गुरुके पास गये। इन आख्यानोंमें परा विद्याका अर्थ एक ही है और वह है आत्मविद्या। आत्मविद्यामें जिज्ञासु अपने वैयक्तिक स्वरूपके अतिरिक्त सर्वगत या सर्वसाधारण परमात्मस्वरूपको भी जानना चाहता है। शंकराचार्य उपनिषद्‌के शब्दका अनुसरण करके अर्थ करते हुए कहते हैं कि मैं मंत्रविद् अर्थात् कर्मविद् हूँ अथवा मैं सार्थक वेद आदि अपरा विद्याएँ जानता हूँ, परन्तु आत्मविद् नहीं हूँ अर्थात् परा विद्यासे अनभिज्ञ हूँ। रामानुज अपरा विद्याका शाब्दिक अर्थ न करके और परोक्ष विद्या ऐसा भाव सूचित करके परा विद्याका अर्थ अपरोक्ष ज्ञान करते हैं। चाहे जो अर्थ लें, पर अन्तमें बात तो यही फलित होती है कि पहले अपरा विद्याओंकी उत्पत्ति और विकास हुआ, जिसमें मुख्य लक्ष्य आत्मज्ञानका नहीं था अथवा कमसे कम था और बादमें ही जिज्ञासुवर्ग परा विद्याकी ओर मुड़ा अर्थात् अधिकाधिक अपने और परमात्माके स्वरूपको तथा उसके सम्बन्धको जानने-समझने और उसका अनुभव करनेकी ओर प्रवृत्त हुआ।

मानव-जिज्ञासा तथा तदर्थ प्रयत्नकी विद्यायात्राके परिणामस्वरूप उसने तीन विषयोंका आलोड़न किया। वे ही विषय जगत्, जीव और ईश्वरके रूपमें दर्शनविद्याके मुख्य प्रतिपाद्य बने हैं।

इन तीनों विषयोंका चिन्तन अनेक पुरुषोंने भिन्न-भिन्न क्षेत्रमें और भिन्न-भिन्न समयमें किया है। प्रत्येककी शक्ति, भूमिका, दृष्टि और साधन भी एक-से नहीं थे। फलतः सत्यशोधका आग्रह एक-जैसा होने पर भी इस शोधके परिणाम एक-जैसे नहीं आये हैं। इसी कारण हम देखते हैं कि बाह्य जगत् एवं अन्तरात्मा और परमात्माके स्वरूपके विषयमें अनेक प्रस्थान प्रवृत्त हुए हैं। इन प्रस्थानोंमें ऊपर-ऊपरसे

देखने पर, और कभी-कभी तो तात्त्विक दृष्टिसे भी, भेद दृष्टिगोचर होता है; फिर भी इन सबमें अन्तर्गत मुख्य ध्वनि तो यही सुनाई पड़ती है कि प्रत्येक प्रस्थान सत्यके अतिरिक्त दूसरे किसीको आकांक्षा नहीं रखता। दार्शनिक प्रस्थानोंकी यह एक सिद्धि ही है। यदि प्रत्येक प्रस्थानका आग्रह सत्य ही हो, तो कभी-न-कभी मनुष्य उसके द्वारा अज्ञानग्रन्थिको दूर कर सकेगा।

मनुष्यने जिन-जिन विद्याओंमें अवगाहन किया है वे सभी उसके अपने पुरुषार्थको सिद्ध करनेके लिए ही हैं। उसने अर्थ एवं कामको सिद्ध करनेके लिए विद्याएँ पैदा कीं; धर्म सिद्ध करनेके लिए भी विद्याएँ उत्पन्न कीं और अन्तमें मोक्ष सिद्ध करनेके मार्गोंका भी उसने विचार किया। इतना ही नहीं, बहुत-से दृष्टान्तोंमें तो उन मार्गों पर चलकर उसने अनुभवसे भी उन्हें कसकर देखा। इस तरह मनुष्यने आजतकमें विद्या और अनुभवकी सुदीर्घ यात्रा की है। इस यात्राके जो परिणाम भारतीय वाङ्मयमें तृप्तिकर रूपमें वर्णित मिलते हैं उनके चिरपरिशीलन एवं तज्जन्य रसास्वादके एक अल्प-स्वल्प नमूनेके तौर पर मैंने इन व्याख्यानोंमें उनका नवनीत परोसनेका प्रयत्न किया है।

उद्देश्य यह है कि दर्शनविद्याका प्रत्येक अभ्यासी जगत्, जीव और ईश्वरके बारेमें भारतीय दर्शन क्या-क्या और किस-किस तरहसे चिन्तन करते आये हैं यह संक्षेपमें समझ सके और उस चिन्तनका तुलनात्मक अध्ययन भी कर सके। मूलभूत प्रश्न यथावत् समझमें आ जाय तो उसमेंसे विशेष जाननेकी जिज्ञासा पैदा हो सकती है और इस जिज्ञासाको सन्तुष्ट करनेके लिए वह मूल ग्रन्थोंके अध्ययनकी ओर भी प्रवृत्त हो सकता है। इस दृष्टिसे उस-उस विषयके बारेमें तथा उस-उस विषयमें आनेवाले मतभेदोंके बारेमें उपयोगी हो सके ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी सूचना भी मैंने टिप्पणोंमें की है।

मैंने जगत्, जीव और ईश्वर—इन तीन विषयोंसे सम्बद्ध दार्शनिक प्रस्थानोंके विचारभेद ही नहीं दिखलाये, अपितु ये विचारभेद किस-किस दृष्टिमेंसे अस्तित्वमें आये, किस-किस प्रकारसे इनका विकास हुआ और उनमें समता या विषमता क्या है यह दिखलानेका भी स्वल्प यत्न किया है, जिससे प्रत्येक प्रस्थानप्रवर्तकके मूल आशयको समझनेमें सहायता मिले।

दर्शनविद्या मनुष्यको अपने स्वरूपका विचार करने और उसका अनुभव करनेके लिए प्रेरित करती है। यह प्रेरणा मनुष्यको विश्व एवं इतर प्राणिजगत्के साथ उसका जो सम्बन्ध है उसके बारेमें विचार करनेमें सहायक होती है। इस विचारमेंसे मानवका रूपान्तर होता है। उसका जीवन मात्र स्थूललक्षी मिटकर सूक्ष्मलक्षी तथा सर्वलक्षी होनेकी दिशामें मुड़ता है, जिसके परिणामस्वरूप वह व्यक्तिके रूपमें भिन्न दिखाई पड़ने पर भी तात्त्विक दृष्टिसे सबमें आत्मौपम्यकी अथवा तो अभेदकी दृष्टिका विकास करता है। यह दृष्टि ही मानवताका साध्य है और यही चरित्रनिर्माणकी नीव है। जहाँ दर्शनविद्याके कारण सच्ची दार्शनिक दृष्टि या परा विद्याका स्पर्श हुआ वहाँ जीवनका ऊर्ध्वीकरण अवश्यम्भावी है। यह उर्ध्वीकरण सिद्ध करनेका प्रयत्न ही अध्यात्मयोग या आत्मविद्या है।

भारतीय तत्त्वविद्याने केवल तत्त्वनिरूपणमें ही अपनी कृतकृत्यता नहीं मानी; इसने तो मुख्यरूपसे अध्यात्मयोग या योगविद्याका मार्ग निर्माण करनेकी भूमिका ही तैयार की है। यदि योगमार्गके विचारकों तथा तद्विषयक शास्त्रोंमें उल्लिखित और परम्पराओंमें प्रचलित अनुभवको छोड़ दिया जाय, तो फिर भारतीय दर्शनविद्यामें कोई जीवातुभूत तत्त्व ही नहीं रहता। इस दृष्टिसे इन व्याख्यानोंमें योग या अध्यात्मविद्याकी चर्चा करना उचित था, फिर भी व्याख्यानोंकी एक मर्यादा होनेसे मैंने

उसके बारेमें कोई चर्चा नहीं की है। मैंने अन्यत्र 'अध्यात्म विचारणा'[1] नामक ग्रन्थमें इस विषयमें यथामति चर्चा भी की है।

दर्शनविद्याका अन्तिम प्रश्न तो आत्मतत्त्व एवं परमात्म तत्त्वकी विचारणा है। यह विचारणा अनेक युगोंसे अनेक व्यक्ति करते आये हैं, पर उन सबकी विचारपद्धति एक-सी नहीं रही। ऊपर कहा उस तरह, मनुष्य पहलेपहल बाह्य जगत्को देखता है, अर्थात् अपनी देहको ही 'मैं अन्तिम हूँ' ऐसा मानकर प्रवृत्त होता है। इसमेंसे जब वह गहराईमें जाता है तब उसकी समझमें आता है कि देह, इन्द्रिय, प्राण और मन आदिसे भी पर ऐसा कोई स्वानुभवगम्य तत्त्व है जो वस्तुतः 'मैं' हूँ। 'मैं' मात्र इन्द्रियगम्य या मनोगम्य भी नहीं है; वह तो इससे भी पर और स्वसंवेद्य है। जब इतना समझमें आ जाता है तब उसके सामनेसे देह, प्राण आदिका भेदक आवरण अर्थात् अध्यास हट जाता है और उसे प्रतीत होता है कि जैसे उसका 'अहं' देहादिमें रहने पर भी देहादिसे पर ऐसी चिदात्मा है, वैसे ही प्राणिमात्रके 'अहं' के विषयमें भी है। जब यह भान होता है तब उसमें दोमेंसे कोई एक वृत्ति स्थिर होती है—या तो वह अपनी चिदात्माको प्राणिमात्रके अहं जैसी मानने लगता है अर्थात् वह प्राणिमात्रको आत्मौपम्यकी दृष्टिसे ही देखता है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु' या फिर वह अपनी चिदात्माको प्राणिमात्रमें विद्यमान अहंसे तात्त्विकरूपमें अभिन्न देखने लगता है। यह दूसरी अभेद या ब्रह्मवृत्ति है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

'जो पिण्डमें सो ब्रह्माण्डमें' इस कहावतके अनुसार जैसे देह, इन्द्रिय, प्राण आदिसे पर चिदात्मा देहादि संघातमें बसती है, वैसे स्थूल विश्वके घटक पार्थिव, जलीय आदि भौतिक द्रव्य और इनसे भी सूक्ष्म

---

१. प्रकाशकः गुजरात विद्यासभा, भद्र, अहमदाबाद—१।

वायवीय, आकाशीय या चित्ततत्त्वोंसे पर एक सर्वव्यापी चिदात्मा भी होनी चाहिए। यदि पिण्ड-पिण्डमें चिदात्मा है, तो इसी न्यायसे समग्र ब्रह्माण्डमें भी वैसी ही, उससे भी उदात्त और सर्वव्यापी चिदात्मा क्यों न हो? वैसी चिदात्माके बिना ब्रह्माण्डका सचेतन संचलन सम्भव ही कैसे हो सकता है? इस विचारमेंसे ब्रह्माण्डके मूलमें एक बृहत् तत्त्वके अस्तित्वकी विचारणाने भी दर्शनविद्यामें प्रबल स्थान प्राप्त किया। यही विचारणा आत्मअभेदकी मान्यताकी नीव है। पिण्ड-विचारणामेंसे आत्मौपम्यकी भावना और ब्रह्माण्ड-विचारणामेंसे आत्म-अभेदकी भावना—ये दो ही मुख्य प्रवाह दर्शनविद्याके प्रेरक हैं।

आत्मौपम्यकी दृष्टिने जीवनमें समत्वकी भावना फैलाई और आत्म-अभेदकी दृष्टिने जीवनमें विश्वैक्य या ब्रह्मभावनाका विकास किया। ये दोनों भावनाएँ अन्ततोगत्वा अहिंसाको ही सिद्ध करती हैं। यदि अहिंसा मानवजीवनमें साकार न हो, तो ये दोनों भावनाएँ केवल शाब्दिक ही बनी रहें। परन्तु मानवजातिने ऐसे वीरोंको जन्म दिया है जिन्होंने अहिंसाको साकार किया है। उपनिषदोंमें जब सत्, जीव या आत्माको ब्रह्मके रूपमें वर्णन किया जाता है तब उसमें ब्रह्माण्डकी अभेदभावना गूँजती है; और जब आत्माका देहादिसे परके रूपमें वर्णन आता है तब आत्मौपम्यकी दिशा सूचित होती है। अन्तमें, ब्रह्म और सम ये दोनों शब्द अहिंसा और उसके आनुषंगिक मूल व्रतोंमें एकार्थक ही बन जाते हैं।

व्यक्तिगत या सामाजिक जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें अर्थात् आर्थिक, शैक्षणिक, राजनीतिक और सामाजिक आदिमें आत्मौपम्यमूलक अथवा आत्माभेदमूलक अहिंसाके सच्चे व्यवहारकी आवश्यकता अधिकसे अधिक आज ही है।

शब्दसूचि